प्रेरणा पथ

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

प्रेरणा पथ

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन सन्त शिरोमणि
पूज्यपाद स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज
की अमृतवाणी

प्रकाशक :

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन-281 121

- *प्रकाशक :*
  मानव सेवा संघ प्रकाशन
  वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)
  पिन-281 121

- सर्वाधिकार सुरक्षित

- द्वितीय संस्करण : 4000 प्रतियाँ
  जनवरी 2013

- मूल्य रु० : 30.00

- मुद्रक :
  पावन प्रिन्टर्स
  मेरठ

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है तथा साधक के विकास का अचूक उपाय है।)

मेरे नाथ!
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल,
एवम्,
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल,
प्रदान करें,
जिससे वे,
सुख-दुःख के,
बन्धन से,
मुक्त हो,
आपके,
पवित्र प्रेम का,
आस्वादन कर,
कृतकृत्य,
हो जायँ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

हरिः शरणम्

हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम्।
हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम्।
हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम।
हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम।
हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम्, हरि:शरणम।

सर्वहितकारी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में, अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को, पुनः न दोहराने का व्रत लेकर, सरल विश्वासपूर्वक, प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्-चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा, अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी, पारिवारिक भावना के अनुरूप ही, पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी, स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की, यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से, सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से, आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके, अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को, अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

प्रार्थना

मेरे नाथ!

आप अपनी, सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतित-पावनी,
अहैतुकी कृपा से, मानव-मात्र को, विवेक का आदर,
तथा,
बल का सदुपयोग, करने की सामर्थ्य,
प्रदान करें, एवं,
हे करुणा सागर!
अपनी अपार करुणा से, शीघ्र ही, राग-द्वेष का,
नाश करें। सभी का जीवन, सेवा
त्याग, प्रेम से, परिपूर्ण
हो जाय।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

प्राक्कथन

'मानव' स्रष्टा की अनुपम एवं विलक्षण रचना है। उसके एक ओर यदि सुहावना-लुभावना जगत् है, तो दूसरी ओर अनदेखा एवं अनजाना परमात्मा। वह इन दोनों के बीच में खड़ा है। एक ओर यदि वह इस नाशवान संसार का आकर्षण अनुभव करता है, तो दूसरी ओर उसके भीतर की माँग उसे देखे-सुने जगत् से उपराम कर उस अगम-अगोचर से सम्बन्ध जोड़ने की प्रेरणा प्रदान करती है, जो वेद-शास्त्रों का प्रतिपाद्य एवं गुरुवाणी व भक्तवाणी का वर्ण्य विषय है। इस दृश्यमान जगत् के प्रति आकर्षित होकर भी व्यक्ति इसके बन्धन से मुक्त होना चाहता है। 'सत्संग' जो कि मानव का स्वधर्म है, उसकी इस माँग की पूर्ति में सहायता करता है।

'स्वधर्म' का अर्थ है, जिसका सम्पादन अपने द्वारा हो। अपने द्वारा होने वाली बातों में-(1) हम प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता के द्वारा किसी के काम आ सकते हैं-(2) ज्ञानपूर्वक अकिंचन एवं अचाह हो सकते हैं, (3) आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास के द्वारा परमात्मा को अपना मान सकते हैं।

हमारे रचयिता ने हमें कर्म-सामग्री प्रदान की है, जिसके द्वारा हम जगत् में भौतिक उन्नति कर सकते हैं। ज्ञान का प्रकाश दिया है, जिसका आदर करके हम निर्मम-निष्काम होकर मुक्त हो सकते हैं; एवं आस्था, श्रद्धा व विश्वास का तत्त्व दिया है, जिसके द्वारा हम सुने हुए परमात्मा का महत्त्व एवं अपनत्व स्वीकार कर भक्त हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे रचयिता ने जो बल, विवेक एवं आस्था का तत्त्व हमें प्रदान किया है, उसके सदुपयोग के द्वारा हम अपने लिए, जगत् के लिए एवं जगत्पति के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में मानव सेवा संघ के प्रणेता-प्रवर्तक सन्त की अमर-वाणी के वे अंश संकलित किये गये हैं, जो अब तक अप्रकाशित थे। संघ का 'दर्शन' एक पूर्ण दर्शन है, जो हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू को स्पर्श करता है। हम सब 'साधक' हैं और साधन के द्वारा सिद्धि के अभिलाषी हैं। प्रस्तुत पुस्तक साधन-मार्ग पर अग्रसर होने वाले साधकों का पग-पग पर पथ-प्रदर्शन करेगी, ऐसी आशा एवं विश्वास है।

परम करुणामय हम सभी का जीवन सेवा-त्याग एवं प्रेम से परिपूर्ण करें!

इसी सद्भावना के साथ,

विनीत

अद्वैत चैतन्य

मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन

रामनवमी, 2 अप्रेल 2001

अनुक्रमणिका

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
1.	दिव्य संदेश	10
2.	जीवन-क्रान्ति की दिशा में एक अमर संदेश	12
3.	हम क्या करें?	13
4.	अपनी ओर निहारो-1	14
5.	अपनी ओर निहारो-2	18
6.	अपनी ओर निहारो-3	23
7.	साधना की अभिव्यक्ति के लिए जीवन के सत्य को स्वीकार करो-1	26
8.	साधना की अभिव्यक्ति के लिए जीवन के सत्य को स्वीकार करो-2	28
9.	सत्संग एवं श्रम-रहित साधन की महत्ता-1	30
10.	सत्संग एवं श्रम-रहित साधन की महत्ता-2	33
11.	सत्संग एवं श्रम-रहित साधन की महत्ता-3	36
12.	असाधन रहित साधन-1	39
13.	असाधन रहित साधन-2	41
14.	असाधन रहित साधन-3	45
15.	जानने-मानने तथा करने का स्वरूप विवेचन-1	48
16.	जानने-मानने तथा करने का स्वरूप विवेचन-2	51
17.	जानने-मानने तथा करने का स्वरूप विवेचन-3	54
18.	वर्तमान निर्दोषता में आस्था-1	56
19.	वर्तमान निर्दोषता में आस्था-2	60
20.	वर्तमान निर्दोषता में आस्था-3	63
21.	व्यर्थ चिन्तन का स्वरूप और माँग की पूर्ति-1	65
22.	व्यर्थ चिन्तन का स्वरूप और माँग की पूर्ति-2	69
23.	व्यर्थ चिन्तन और उसका दुष्परिणाम-1	71

24. व्यर्थ चिन्तन और उसका दुष्परिणाम-2 75
25. माँग की पूर्ति में अपने कर्त्तव्य का पालन अनिवार्य 79
26. विश्वास की सजीवता 85
27. सत्संग-1 87
28. सत्संग-2 91
29. सत्संग-3 94
30. साधन रहस्य 100
31. साधन और साध्य 101
32. जीवन का सत्य क्या है? 105
33. योग की प्राप्ति 110
34. योग की सिद्धि में कर्त्तव्य का पालन अनिवार्य 111
35. प्राप्त के सदुपयोग का महत्त्व-1 114
36. प्राप्त के सदुपयोग का महत्त्व-2 117
37. सच्ची असमर्थता जीवन का वरदान 122
38. संसार में मेरा कुछ नहीं, प्रभु ही अपने हैं 126
39. संसार की पहुँच शरीर तक 130
40. उदारता में रस है 132
41. परिस्थिति का सदुपयोग-1 133
42. परिस्थिति का सदुपयोग-2 138
43. परिस्थिति का सदुपयोग-3 142
44. भगवान् का अवतार-रहस्य 145
45. सत्संग की प्रेरणा 148

दिव्य सन्देश

श्रीवृन्दावन धाम
11-11-73

प्राणप्यारे के प्रिय जनों !

सविनय सेवा में निवेदन है कि जो सदैव होने से अभी और सभी का होने से अपना और सर्वत्र होने से अपने में मौजूद है, वही समर्थ है, वही सर्वेश्वर है और वही प्रेमियों का प्राणेश्वर है। उसी को साधन-तत्त्व अर्थात् गुरु-तत्त्व एवं साध्य-तत्त्व भी कहते हैं। वह गुरु-तत्त्व साध्य का ही प्रतिरूप है, साध्य की कृपा-मूर्ति ही गुरु-मूर्ति है। यह प्रेमी जनों का अनुभव है। साधक की गुरु-तत्त्व से ही अभिन्नता होती है, और गुरु-तत्त्व सर्वदा ही साध्य-तत्त्व से अभिन्न है। निज ज्ञान-गुरु के प्रकाश में अनुभव करो कि प्रतीति का प्रकाशक और उत्पत्ति का आधार जो है, वही अनादि, अनन्त, अविनाशी तत्त्व है। उसी से साधकों की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है और वे ही सबके अपने हैं। यह वास्तविकता सद्गुरु-वाणी के द्वारा ही स्वीकार की जाती है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। अतः जिन भागवत जनों ने गुरु-मुख द्वारा उसे, जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि के द्वारा देखा नहीं, अपितु गुरु-वाणी के द्वारा स्वीकार किया है, वे धन्य हैं। गुरु-तत्त्व के बिना अनन्त अगोचर प्राणेश्वर से आत्मीय सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से गुरु-तत्त्व ही एक मात्र श्री हरि से मिलाने में हेतु है। ज्ञान का प्रकाश दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है और साधक के सर्व दुःखों की निवृत्ति हो सकती है; किन्तु नित नव-रस की उपलब्धि के लिए तो आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक गुरु-वाणी द्वारा ही उसे स्वीकार किया जाता है, जो सभी का सब कुछ है। आत्मीय सम्बन्ध ही एकमात्र अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति में हेतु है।

यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सद्गुरु-वाणी को अपनाया है। गुरु-तत्त्व की प्राप्ति होने पर ही भगवत्-तत्त्व की प्राप्ति होती है। यह भगवत्प्राप्त साधकों का अनुभव है। निज-ज्ञान के आदर से साधक चिर-शान्ति, जीवन-मुक्ति प्राप्त कर सकता है। परन्तु भक्ति-तत्त्व की प्राप्ति में तो एकमात्र सद्गुरुवाणी में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास ही अचूक उपाय है। यह जीवन का सत्य है। हम सभी सद्गुरु जयन्ती महोत्सव मना रहे हैं।

हमें अपने आपके सम्बन्ध में सजीवता लानी चाहिए। वह तभी सम्भव होगी, जब हम अपने में अपने परम प्रेमास्पद को स्वीकार कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जायें। सर्व–समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपने विश्वासी जनों को अपनी आत्मीयता प्रदान करें, जिससे वे पावन प्रीति पाकर कृत–कृत्य हो जायें।

इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

शरणानन्द

जीवन-क्रान्ति की दिशा में एक अमर संदेश

2-12-72

मानव-मात्र में बीज रूप से मानवता विद्यमान है। उस विद्यमान मानवता को विकसित करने के लिए, एकमात्र सत्संग-योजना ही अचूक उपाय है। बलपूर्वक जो परिवर्तन आता है, वह स्थायी नहीं होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। गुण-दोष व्यक्तिगत हैं। किसी वर्ग विशेष को सदा के लिए हृदयहीन, बेईमान मान लेना न्यायसंगत नहीं है। सभी वर्गों में भले व बुरे व्यक्ति होते हैं। जीवन के परिवर्तन से क्रान्ति आती है, परिस्थिति-परिवर्तन से नहीं।

जीवन में परिवर्तन, जाने हुए असत् के त्याग से होता है, बल से नहीं। असत् के त्याग की प्रेरणा व्यापक हो सकती है, व्यक्तिगत सत्संग के प्रभाव से। क्या आप यह नहीं जानते हैं कि एक-एक महापुरुष के पीछे हजारो व्यक्ति चलते हैं, लेकिन हजारों व्यक्ति मिलकर एक महापुरुष नहीं बना सकते?

अधिकार-लालसा ने अकर्मण्यता को पोषित किया है और हिंसात्मक प्रवृत्तियों को जन्म दिया है, जो विनाश का मूल है। प्राकृतिक विधान के अनुसार दूसरों के साथ किया हुआ कालांतर में कई गुना होकर अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से बुराई के बदले बुराई करना अहितकर ही है। तो फिर सत्संग-योजना के अतिरिक्त और कोई उपाय क्रान्ति का नहीं है। यह जीवन का सत्य है।

मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग मत करो और न पराधीन रहो। यह महामंत्र ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रान्ति में उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है। जो सत्य जीवन में आ जाता है, वह अवश्य विभु हो जाता है, यह वैज्ञानिक सत्य है। व्यक्तिगत क्रान्ति से ही सामाजिक क्रान्ति होगी, इस वास्तविकता में अविचल रहना चाहिए; सफलता अवश्यम्भावी है। परम प्रिय छात्र अध्यापकों की सेवा में इन वाक्यों को सुना देना। आशा है, वे धीरजपूर्वक मनन करेंगे और काम में लायेंगे। सभी को सप्रेम यथोचित निवेदन करना। ॐ आनन्द!

सद्भावना सहित

शरणानन्द

हम क्या करें?

हम क्या करें? यह एक सजग मानव की माँग है। इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करें, अपितु पवित्र भाव से सदुपयोग करें अथवा यों कहो कि दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वत: होगा। यह एक प्राकृतिक विधान है। हाँ, विचारपूर्वक किए हुए सदुपयोग का अभिमान न करें और उसका अपने लिए फल न माँगें। केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से करने की बात है, जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय। राग-निवृत्ति से ही स्वत: योग प्राप्त होता है। यह प्रकृति से परे का विधान है। योग की पूर्णता से बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। प्रकृति का विधान कर्त्तव्य-विज्ञान और प्रकृति से परे का विधान अध्यात्मवाद एवं प्रभु का मंगलमय विधान आस्तिकवाद है।

यह सर्वमान्य सत्य है कि प्रत्येक मानव में करने, जानने और मानने की सामर्थ्य है। वह उसे अपने रचयिता से प्राप्त हुई है। वह किसी प्रयास का फल नहीं है। इतना ही नहीं, यदि यह मान लिया जाय कि इन तत्त्वों की प्राप्ति से ही प्रयास का आरम्भ होता है, तो अत्युक्ति न होगी। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करना कर्त्तव्य-विज्ञान है, इससे मानव, जगत् के लिए उपयोगी होता है; किन्तु जगत् में अपना कुछ नहीं है। अत: अपने को जगत् से कुछ नहीं चाहिए। यह अध्यात्म-विज्ञान अर्थात् मानव-जीवन का दर्शन है। दर्शन हमें स्वाधीन होने की प्रेरणा देता है। निर्मम तथा निष्काम होने से ही स्वाधीनता से अभिन्नता होती है। जीवन-विज्ञान बुराई-रहित होने की प्रेरणा देता है और फिर स्वत: परिस्थिति के अनुसार भलाई होने लगती है। यही भौतिकवाद तथा कर्त्तव्य-विज्ञान है। यह कर्त्तव्य मानव को स्वत: करना चाहिए। यही मानवीय साम्य है, सच्चा साम्य है। यह साम्य मानव को स्वाधीनतापूर्वक अपने द्वारा अपने लिए अपनाना चाहिए। तभी व्यक्तिगत क्रान्ति से समाज और व्यक्ति में एकता होगी।

दूसरों के द्वारा बलपूर्वक व्यक्तिगत सम्पत्ति के विभाजन-मात्र से समाज की गरीबी नहीं मिटेगी। अपितु समाज में आलस्य और विलास की ही वृद्धि होगी, जो दरिद्रता का मूल है। राष्ट्रगत सम्पत्ति हो जाने से सरकार के नाम पर समाज में एक नौकरशाही वर्ग उत्पन्न हो जाता है। समाज में बहुत थोड़े

से लोगों के हाथों में देश की सारी सामर्थ्य आ जाती है। सामर्थ्य का अल्प संख्या में एकत्रित हो जाना, व्यक्तियों को सामर्थ्य के अभिमान में आबद्ध करना है, जो विनाश का मूल है। जब अधिक संख्या में सामर्थ्य विभाजित रहती है, तब मानव स्वाधीनतापूर्वक एकता तथा समता की ओर अग्रसर होता है। अकिंचन तथा स्वाधीन होने से व्यक्ति को अपने लिए सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं रहती। फिर वह देहातीत अर्थात् जगत् से परे के जीवन को पाकर सन्तुष्ट हो, उदार तथा प्रेमी स्वत: हो जाता है, जिससे मानव की जगत् और जगत् के प्रकाशक से वास्तविक एकता हो जाती है। स्वाधीनता, उदारता और प्रेम उसका जीवन हो जाता है। उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम अविनाशी तथा अनन्त तत्त्व हैं अथवा यों कहो कि यह प्रभु का स्वभाव और मानव का जीवन है। पराश्रय से गरीबी नाश नहीं होती। इसी कारण सम्पत्ति के आश्रित शान्ति नहीं मिलती। परिश्रम पर-सेवा के लिए है। उसके बदले में अपने को कुछ नहीं चाहिए। तभी मानव श्रम के अन्त में विश्राम को पाकर स्वाधीन होकर उदार तथा प्रेमी हो जाता है। हमें यही करना है कि स्वाधीनता का सदुपयोग कर स्वाधीन हो जाएँ।

अपने लिए किसी अन्य की अपेक्षा न हो; अपितु अपने में जो प्रेमास्पद है, उसी की प्रीति अपना जीवन हो जाय। प्रीति और प्रीतम के नित्य-विहार में ही अनन्त, अविनाशी, नित-नव रस की अभिव्यक्ति होती है। उसकी उपलब्धि ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति एक-मात्र स्वाधीनता का सदुपयोग एवं स्वाधीन होने में है। यह जीवन का सत्य है। सत्य से अभिन्न होने के लिए यह ज्ञानपूर्वक अनुभव करना है कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, मेरा किसी पर कोई अधिकार नहीं है, अपितु मुझ पर सभी का अधिकार है। बुराई-रहित होने से सभी के अधिकार की रक्षा स्वत: हो जाती है और भलाई का अभिमान तथा फल छोड़ देने से मानव स्वाधीन होकर, अपने में अपने को सन्तुष्ट कर अविनाशी जीवन से अभिन्न हो जाता है और फिर अनन्त की अहैतुकी कृपा से उदारता तथा प्रेम की स्वत: अभिव्यक्ति होती है।

"मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए"-यह मानव का पुरुषार्थ है। सर्व-समर्थ प्रभु अपने हैं, सब कुछ प्रभु का है-यह वेद-वाणी तथा गुरु वाणी के द्वारा विकल्प-रहित विश्वासपूर्वक स्वीकार करना चाहिए। विश्वास से भिन्न प्रभु-प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है। निर्विकारता, चिर-शान्ति तथा अविनाशी जीवन ज्ञान से सिद्ध है और सब कुछ प्रभु का है, प्रभु अपने हैं-यह विश्वास से सिद्ध है। विश्वास भी बल तथा ज्ञान के समान दैवी-तत्त्व है। बल का उपयोग विज्ञान से होता है अथवा यों कहो कि विज्ञान भी एक प्रकार का बल है, उसका कभी भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। बल तथा

की सेवा के लिए है और ज्ञान भूल-रहित होने के लिए है और विश्वास से ही प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध होता है। बल का उपयोग विज्ञान से होता है। अथवा यों कहों कि विज्ञान भी एक प्रकार का बल है, उसका कभी भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। बल का दुरुपयोग न करना मानवता है अर्थात् जीवन-विज्ञान है। सदुपयोग के अभिमान तथा फलासक्ति से रहित होना अध्यात्मवाद अर्थात् मानव-दर्शन है। जीवन-विज्ञान हमें उदारता तथा अध्यात्म-विज्ञान हमें स्वाधीन होने की प्रेरणा देता है। प्रभु अपने हैं, अपने में हैं-यह आस्था हमें प्रेम-तत्त्व से अभिन्न करती है।

उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम ही जीवन है, जिसकी माँग बीज-रूप से मानव-मात्र में विद्यमान है। जीवन का जो सत्य है उसे स्वीकार करने से ही भूल की निवृत्ति एवं योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

अपनी ओर निहारो-1

हम मानव हैं और मानव होने के नाते हमारे जीवन का बड़ा महत्त्व है, उसकी बड़ी महिमा है। महिमा इसलिए है कि जितने भी प्रश्न हैं, वे सब मानव के ही सामने हैं। यदि दु:ख-निवृत्ति का प्रश्न है, तो मानव का प्रश्न, परमशान्ति का प्रश्न है, तो मानव का प्रश्न, स्वाधीनता का प्रश्न है, तो मानव का प्रश्न और परम प्रेम का प्रश्न है, तो मानव का प्रश्न।

यह बात केवल आपके ही जीवन में है, इसलिए आप अद्वितीय हैं। आप जो कर सकते हैं, वह कोई दूसरा नहीं कर सकता। आपको जो मिल सकता है, वह किसी अन्य को नहीं मिल सकता। इसलिए नि:संदेह आप अनुपम हैं। आप कहेंगे, क्यों? प्रभु ने सृष्टि की रचना भले ही की हो, पर प्रभु में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे किसी को यह कह सकें कि तुम मेरे नहीं हो। और आप जानते ही हैं-आपमें यह सामर्थ्य है कि मिली हुई प्रत्येक वस्तु की ममता को आप छोड़ सकते हैं, कामना तोड़ सकते हैं। और आप यह भी जानते हैं कि प्रभु जिसे अपना कहते हैं, उसे जानते भी हैं। लेकिन आपमें यह विलक्षणता है कि आप उनको बिना जाने ही अपना कह सकते हैं। आप सोचिये, इन्द्रिय-दृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से आप जो जानते हैं, उसकी ममता-कामना छोड़ सकते हैं। और जिसको केवल सुना है, जानते नहीं हैं, उससे आप आत्मीय सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। यह अनुपम कार्य मानव ही कर सकता है। यह बात अलग है कि उसने इतना सुन्दर आपको बनाया है! किसने? जिसे आप जानते नहीं, पर जो आपको जानता है।

मुझे कोई नई बात आपको नहीं बतानी है। क्यों? मुझे यह विदित हो गया है कि उसी की अहैतुकी कृपा से प्रत्येक मानव का गुरु, उसका नेता और उसका शासक सदैव उसके साथ है, सदैव ही उसके साथ है। आपका गुरु, आपका नेता आपमें मौजूद है। परन्तु उसकी उपस्थिति का फल आपको तभी मिल सकता है, जब आप अपना गुरु बनना पसंद करें तब, जब आप अपना नेता बनना पसंद करें तब, जब अपना शासक बनना पसंद करें तब। किन्तु हमसे भूल यह होती है कि हम अपने नेता, गुरु, शासक न बनकर दूसरों के नेता, गुरु और शासक बनना पसंद करते हैं। और उसका परिणाम होता है-आप जानते हैं, क्या? उसका परिणाम होता है कि हमारे पीछे बहुत से भाई-बहन चलने लगते हैं, हमारे गीत गाने लगते हैं, हमारी महिमा का वर्णन करने लगते हैं। लेकिन यदि आप शिष्यों की दशा को देखें, तो एक चीज आप उनमें पायेंगे, और वह यह कि आज के युग में शिष्य वही कहलाता है, जो गुरु की बात न माने। जितना क्रोध आज ईसा के पीछे चलने वालों में है, उतना किसी में है क्या? विनाशकारी आविष्कार उन्हीं लोगों ने किये हैं जिन्होंने ईसा को अपना नेता-गुरु-पीर-पैगम्बर-पथ-प्रदर्शक माना है। विचार कीजिये, यह आज के शिष्य की लीला है कि गुरु को माने, पर गुरु की बात को न माने। और आप जानते हैं कि आज के समाज की क्या गति है? नेता को माने, उसके स्मारक बनाये, उसकी शताब्दी मनाये, पर बात उसकी न माने। यह आज के समाज की दशा है। और आप जानते हैं कि आज के शासक की क्या दशा है? जिस बात को करने के लिए दूसरे को मना करे, स्वयं उसी को करे। ऐसी भयंकर परिस्थिति में एक मौलिक प्रश्न हमारे-आपके सामने उपस्थित है और वह मौलिक प्रश्न यह है कि हमारे व्यक्तिगत जीवन का चित्र आज क्या से क्या हो गया है, पारिवारिक-जीवन कैसा बिगड़ गया है, और सामाजिक जीवन कैसा विकृत हो गया है! इनको सँभालने का यह जो मौलिक प्रश्न हमारे सामने है, उसी पर ध्यान देना है और जीवन के उस प्रश्न पर जब आप विचार करेंगे, तो आपको मानना पड़ेगा और मैं ऐसा कहने के लिये इसलिए बाध्य हूँ कि जो बहुत से भाई-बहिन मिलते हैं, वे यही कहते हैं कि क्या बतायें महाराज ! भगवान् को हम मानते तो हैं, और चाहते भी हैं, पर उनमें मन ही नहीं लगता। आत्मा को हम जानते तो हैं, सुना भी है, पर इस ज्ञान में दृढ़ता नहीं होती। महाराज ! हम तो भौतिकवादी हैं, संसार को मानते है, पर विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। यह तो है हमारी व्यक्तिगत दशा। जिसको मानते हैं, उसी में मन नहीं लगता। जिसको मानते है, उसी में प्रेम नहीं होता। जो जानते हैं, उसी को

आचरण में नहीं लाते। यही आज हमारी व्यक्तिगत दशा है। अब पारिवारिक दशा को देखिये सरकार ! पारिवारिक दशा यह है-मेरे पास बहुत सी बहिनों की, बहुत से भाइयों की ऐसी अनेकों बातें सामने आती हैं, जिनमें पत्नी पति से असन्तुष्ट है, पति पत्नी से असंतुष्ट है, भाई-भाई से असन्तुष्ट है, पिता पुत्र से असन्तुष्ट है, पुत्र पिता से असन्तुष्ट है, और क्या बतायें, पड़ोसी-पड़ोसी से असन्तुष्ट है। यह आज हमारी पारिवारिक दशा है। और रही सामाजिक दशा की बात, सो अगर शुद्ध विष आप लेना चाहें, तो वह भी मिलना दुर्लभ। यह सामाजिक दशा हो गई है।

ऐसी भयंकर परिस्थिति में उसके सुधार के लिये आज हम कहीं तो राष्ट्रीयता के गीत गाते हैं, कहीं धार्मिकता के गीत गाते हैं, न जाने क्या-क्या कहते और करते रहते हैं। चर्चा कर रहे हैं किसी और जीवन की, किसी और देश की, और हैं हम किसी और ही देश में, कुछ भिन्न ही। ऐसी शोचनीय परिस्थिति है। अत: हमें और आपको अपने साथ क्या करना है, इस प्रश्न पर हम विचार करें। मैं क्षमा चाहूँगा, मैं आपको यह नहीं कहता कि आप दूसरों के साथ क्या करें। परन्तु भाई मेरे ! यह तो आपको सोचना ही चाहिए कि आप अपने साथ क्या करें? क्या आप अपने साथ वह करते हैं, जो आपको करना चाहिये?

आपकी दशा क्या है? यदि कोई दूसरा भाई, दूसरा मजहब दूसरा इज्म, दूसरा वर्ग, दूसरा देश, हमारे साथ वह करता है, जो उसे नहीं करना चाहिये, तो हम चीखते-चिल्लाते हैं। किन्तु हम स्वयं जब अपने साथ वह करते हैं, जो नहीं करना चाहिए, तब आप सोचिये और गम्भीरता से सोचिये-जो देश का अभिमान रखते हैं, वे देशवासी विचार करें-क्या आप अपने देश के साथ वही करते हैं, जो आपको करना चाहिये? जो परिवार का दम भरते हैं, वे भी विचार करें कि आप परिवार के साथ क्या वही करते हैं, जो आपको करना चाहिये? क्या आप स्वयं अपने साथ वही करते हैं, जो आपको करना चाहिए? यदि वैसा करते होते, तो मेरा यह विश्वास है-यदि यह कह दूँ तो छोटे मुँह बड़ी बात होगी-मेरा यह अनुभव है कि यदि हम अपने साथ बुराई न करते, तो संसार की सामर्थ्य नहीं कि वह हमारे साथ बुराई कर सके। यदि हम देशवासी अपने देश को स्वयं न बिगाड़ते, तो किसी की सामर्थ्य नहीं होती कि हमें बिगाड़ सकता। यह सांकेतिक भाषा है। लेकिन इसमें दर्द है, इसमें पीड़ा है। जब-जब मैं सोचता हूँ, तब-तब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि हे मानव ! तूने अपने साथ जितनी बुराई की है, कोई दूसरा तेरे साथ उतनी बुराई कभी कर ही नहीं सकता। परन्तु बड़े दु:ख के साथ कहना पड़ता है, हृदय

फटता है कहने में कि हम इस बात को भूलते ही नहीं कि दूसरों ने हमारे साथ क्या बुराई की और यह सोचते ही नहीं कि हमने अपने साथ क्या बुराई की !

मानव-सेवा-संघ कोई नई बात आपको नहीं बताता। मानव-सेवा-संघ कोई ऐसा संघ नहीं है, जो आपका अपना नहीं है। आपका मानव-सेवा-संघ आपसे यह प्रार्थना करता है कि आप कृपया अपने साथ वह न करें, जो आपको नहीं करना चाहिए। संसार में सबसे बड़ा वीर, संसार में सबसे बड़ा धीर, संसार में सबसे बड़ा गम्भीर, संसार में सबसे बडा दक्ष, संसार में सबसे बड़ा तत्त्वज्ञ वही हो सकता है, जो अपने साथ बुराई न करे। आप पूछ सकते हैं कि अगर हम अपने साथ बुराई न करेंगे, तो इससे समाज का क्या लाभ होगा? मेरा आपसे नम्र निवेदन है कि यदि आप अपने साथ बुराई नहीं करेंगे, तो इससे आपका जीवन समाज के लिए उपयोगी हो जायगा। कैसे हो जायगा भाई? बड़ी सीधी सरल बात है। वह इस प्रकार हो जायगा कि जब आप अपने साथ बुराई नहीं करेंगे, तो आप बुरे नहीं रहेंगे और जब आप बुरे नहीं रहेंगे, तब क्या होगा, उसका क्या अर्थ निकलेगा? कर्म, कर्त्ता का चित्र है। कर्म की उत्पत्ति कर्त्ता में से होती है और सही काम से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है। सुन्दर समाज का निर्माण बढ़िया-बढ़िया सड़कों के बनाने में नहीं है, सुन्दर समाज का निर्माण अच्छे-अच्छे बँगले बनाने में नहीं है। सुन्दर समाज का निर्माण बहुत-सा सामान इकट्ठा करने में नहीं है। आप स्वयं सोचिये, बँगला बढ़िया हो, पर रहने वाला पागल हो। क्या इससे समाज सुन्दर हो जायेगा? यह सुन्दर समाज नहीं है। सुन्दर समाज सही काम करने से बनता है। सही काम कहाँ से निकलता है? खेत में नहीं उपजता, पेड़ पर नहीं लगता, नदियों में बह कर नहीं आता। सही काम सही कर्त्ता में से ही निकलता है। सही कर्ता का चित्र है, सही काम। और सही कर्त्ता कौन होता है भैया? जो अपने साथ अपने द्वारा बुराई न करे। और अपने साथ बुराई न करने की सामर्थ्य किसमें आती है? जो भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाता है और घटनाओं को भूल जाता है, वही व्यक्ति अपने साथ बुराई नहीं करता।

अपनी ओर निहारो-2

अब हम और आप सोचें, जो भाई यहाँ बैठे हैं, सोचें और अपने से पूछें कि इस समय आप कैसे हैं? उत्तर में आप यह नहीं कह सकते कि इस समय हम कोई बुराई कर रहे हैं, आप यह नहीं कह सकते। लेकिन आप कहेंगे—"महाराज ! हम क्या बतायें, हम तो बड़े दुनियादार हैं।" मानो अपने

को दुनियादार कहकर बुराई करने का सर्टीफिकेट आपको मिल चुका है। बहुत से लोग कहते हैं—"महाराज! क्या बतायें, हम तो गृहस्थ हैं।"

सोचो! गृहस्थ के माने यह थोड़े ही है कि आप वह करें, जो आपको नहीं करना चाहिये। मेरा नम्र निवेदन है कि आपका वर्तमान तो सर्वांश में निर्दोष है, फिर भी भूतकाल में आप जो भूल कर चुके हैं और उसका जो दृश्य आपमें अंकित है, उसके ही आधार पर आप ऐसा कहते हैं कि हममें लोभ है, हममें मोह है, हममें काम है, हममें क्रोध है। पर भूतकाल में की हुई भूल के प्रभाव के अतिरिक्त इसका और कोई कारण नहीं है। नहीं तो, आप ही बताइये, इसमें कौन सा हेतु है? अपने अनुभव के आधार पर ही ऐसा कहते हैं। आपने भूत में जो कुछ किया है, और जैसा भी किया है, वह आपसे छिपा नहीं है। वह आपके अनुभव में है, आपकी जानकारी में है। परन्तु उसका पता आपको तब चलता है, जब आप आवश्यक कार्य पूरा करके थोड़ी देर के लिए शान्त होते हैं। उस समय आपके जीवन में चिन्तन के रूप में जो उत्पन्न होता है, वह क्या है?

महाराज! वह उसी का तो सूची-पत्र है, जो आप कर चुके हैं। वह क्या है? वह उस बात की सूची है, जो आप भविष्य में करना चाहते हैं। आप देखें, बड़े से बड़े विज्ञानवेत्ता इस पर विचार करें, दार्शनिक लोग विचार करें, साहित्यिक लोग विचार करें, और यह सोचें कि जब आप थोड़ी देर के लिये श्रम-रहित होते हैं, शान्त होते हैं, तब आप अपने में क्या पाते हैं? तब उसमें आगे और पीछे का चिन्तन ही तो पाते हैं। और वह चिन्तन होता है उसका, जो स्वरूप से उस समय मौजूद नहीं है; जो कर चुके हैं, उसका चिन्तन, जो भविष्य में करना चाहते हैं, उसका चिन्तन। तो वर्तमान में जो नहीं है, उसका चिन्तन आप अपने में पाते हैं-न चाहते हुए भी पाते हैं, और न करते हुए भी पाते हैं, और जब आप अपने उस चित्र को देखते हैं, तब भयभीत होकर घबराने लगते हैं और निन्दा करने लगते हैं अपने मन की। कहते हैं-'मन हमारा बड़ा खराब है।' ऐसा कहना उसी के समान है, जैसे यदि कोई दर्पण में जाकर अपना चित्र देखे और उसे देखकर खड़ा-खड़ा दर्पण को गाली दे-'यह दर्पण बड़ा खराब है।' उसके ऐसे व्यवहार पर आप यही तो कहेंगे कि यह पागल हो गया है। क्या इस प्रकार के पागलपन से हम बचे हैं? आज कितने साधक हैं, जो यह नहीं कहते कि हमारा मन बड़ा खराब है? और, महाराज ! कहते भर ही नहीं, अपने कथन की पुष्टि में ऐसे-ऐसे प्रमाण देकर कहते हैं कि हमारे जैसा बे-पढ़ा व्यक्ति तो उन्हें सुनकर डर ही जाय। बड़े-बड़े आदमियों के नाम ले-लेकर डराते-धमकाते हैं। लेकिन आप जानते

हैं कि शास्त्र माने, दर्शन और दर्शन का अर्थ आपके अनुभव से है। और जिन शास्त्रों को आप शास्त्र की संज्ञा देते हैं, उनमें ऐसी बातें होती हैं जिनमें किसी दशा-विशेष का वर्णन पाया जाता है और जिनको आप भी जानते हैं, शास्त्र में पूर्व पक्ष होता है और उसमें उत्तर पक्ष भी होता है। आप भी अपने में जब आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन देखते हैं, तब यही कहते हैं कि हमारा मन बड़ा चंचल है। इसी प्रकार की दशाओं का वर्णन शास्त्र में मिलता है। लेकिन ऐसी दशाओं को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करना, क्या युक्ति-युक्त होगा? क्या उन्हें निर्णयात्मक सिद्धान्त माना जा सकता है? क्या उन्हें अटल सत्य या निर्विवाद निर्णय की संज्ञा दी जा सकती है? कदापि नहीं। उन्हें निर्णायक सत्य के रूप में मान लेने में जीवन के सत्य के साथ एकता नहीं होगी। क्योंकि दशा-विशेष के चित्रण और अविचल सिद्धान्त में अन्तर रहना स्वाभाविक है। तो आप जब अपनी इस दशा से परिचित होते हैं, तब आपको एक सुनहरा अवसर मिलता है, इस बात के लिए कि आप भूतकाल में जो कर चुके थे, उस पर अपने ही द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार कर सकें। यह मानव-सेवा-संघ की सत्संग-योजना है। यह मानव-सेवा-संघ का एक नित्य-कर्म है। यह मानव-मात्र का अपना नित्यकर्म है कि जब उसे अपने भूतकाल के चित्र का दर्शन हो, वह दिखाई दे, तब वह उस पर विचार करे कि इसमें मैंने ऐसी कौन सी बातें की हैं, जो नहीं करनी चाहिए थीं। यदि आपने उस पर विचार कर लिया और न करने वाली बातों को पुनः न करने का निर्णय कर लिया, तो सच मानिये, आप वर्तमान में उतने ही निर्दोष हैं, जितने निर्दोष उस भूल को करने से पूर्व थे। क्यों निर्दोष हैं? इसलिये निर्दोष हैं कि यह न्याय के अनुरूप है। न्याय का सबसे पहला अंग है-कि हम अपनी भूल से परिचित हो जायँ, अपराधी अपने अपराध को जान ले, दोषी अपने दोष को स्वीकार कर ले। यह न्याय का पहला अंग है। दूसरा अंग है कि दोषी उस दोष-जनित प्रवृत्ति के कारण दुःखी हो जाय, व्यथित हो जाय, पीड़ित हो जाय। तीसरा अंग है कि उसके न दोहराने का निर्णय कर ले। आप पूछ सकते हैं कि इससे लाभ क्या होगा? गम्भीरता से विचार करें। जिस समय आप अपने दोष को जानेंगे, दोष आपसे भिन्न होगा; क्योंकि जो जानने में आता है, वह जानने वाले से भिन्न होता है। फिर जिस समय आप अपनी भूल से पीड़ित होंगे, भूल-जनित सुख-लोलुपता का नाश होगा और जब भूल-जनित सुख-लोलुपता का नाश हो जायगा, तब भूल स्वतः पुनः उत्पन्न नहीं होगी। और जब भूल स्वतः उत्पन्न नहीं होगी, तब आपकी निर्दोषता सुरक्षित रहेगी। इस प्रकार का न्याय अगर आप अपने साथ करना सीख जायँ,

तो आप अपने शासक हो गये। यह है, मानव की अपनी राष्ट्रीयता, यह है मानव-जीवन की राष्ट्रीयता। मानव अपने प्रति न्याय करके स्वयं राष्ट्र हो सकता है। राष्ट्र माने क्या? राष्ट्र किसे कहते हैं? जो प्रजा के हृदय पर राज्य करे, वह राष्ट्र। जो प्रजा कानूनी चोरी करे, उसे प्रजा नहीं कहते। ऐसा राष्ट्र राष्ट्र कहलाने के लायक नहीं है, जो ऐसे अनर्गल कानून बनावे, जिनका ईमानदारी से कोई पालन ही न कर सके। आप स्वयं सोचिये, इन्कमटैक्स डिपार्टमेंट के रहते हुये चैलेन्ज है-किसी भी देश में देखें-ईमानदारी का होना क्या सम्भव है? बिलकुल गलत बात। क्योंकि व्यक्तिगत श्रम के महत्त्व का आप आदर ही नहीं करना चाहते। अरे भाई ! राष्ट्र को सम्पत्ति चाहिए, तो सम्मान देकर उसे ले सकते हो, ईमानदार मानकर ले सकते हो। परन्तु आप तो पहले प्रजा को बेईमान बनाते हो और फिर सम्पत्ति को बलपूर्वक छीनते हो। इसका नतीजा क्या होता है? जैसे-जैसे गलत कानून बनते हैं, वैसे-ही-वैसे इन्कमटैक्स एक्ट पर वकील लोग ऐसी-ऐसी चालें सुझाते हैं महाराज! कि जिन्हें न्यायाधीश तो समझ नहीं पाते और इस प्रकार के कानून बिलकुल निरर्थक सिद्ध होते जाते हैं। यह केवल एक मोटा उदाहरण है। और मेरा यह विषय भी नहीं है। यह तो केवल उदाहरण मात्र है।

जब तक मानव-समाज अपने साथ अपने आप न्याय करना नहीं सीखेगा, राष्ट्रीयता से बहुत दूर रहेगा। राष्ट्रीयता के गीत चाहे भले गाता रहे, राष्ट्रीयता के नाम पर व्यक्तिगत की पूजा चाहे भले ही कराता रहे, परन्तु राष्ट्रीयता क्या है? इस रहस्य को वह जान नहीं सकता। मानव-सेवा-संघ ने कहा- "हे मानव ! मानव होने के नाते तेरे जीवन में जो न्याय का तत्त्व है, उस न्याय का तू उपयोग अवश्य कर; परन्तु उस न्याय का उपयोग तू अपने ही पर कर। प्यारे ! दूसरे पर मत कर। औरों पर क्षमा का ही उपयोग कर, प्रेम का उपयोग कर। अपने प्रति तो न्याय का ही उपयोग कर।"

जो मानव अपने प्रति ही न्याय करता है, वह निर्दोष जीवन को सुरक्षित रखने में सफल होता है, समर्थ होता है। और जो दूसरे के साथ क्षमा और प्रेम का व्यवहार करता है, वह परस्पर में वैर-भावना व संघर्ष को मिटा कर एकता का पाठ पढ़ाने में समर्थ होता है। एकता निर्वैरता में है, एकता क्षमा और प्रेम में है। निर्दोषता न्याय में है, निर्दोषता कहीं बाहर नहीं है। राष्ट्र के द्वारा जब न्याय होता है, तब उसका परिणाम क्या होता है? विचार कीजिये। कोई भी बुराई किसी के जीवन में से उस समय तक नहीं निकल पाती, जब तक कि बुराई-जनित वेदना की मात्रा बुराई-जनित सुख-लोलुपता से अधिक न बढ़ जाय। बुराई तभी नाश होती है। परन्तु दूसरे के द्वारा जब न्याय होता है,

तब यदि अपराध से अधिक दण्ड मिल गया, तो क्रोधपूर्वक आदमी बुराई करने लगता है और अपराध से कम दण्ड मिले, तो वह लोभपूर्वक बुराई करने लगता है। कोई भी राष्ट्र-मैं किसी राष्ट्र-विशेष की बात नहीं कहता-कोई भी राष्ट्र ईमानदारी से यह नहीं कह सकता कि हमने अपनी राष्ट्रीयता के द्वारा संसार में न्याय की स्थापना करके निर्दोषता को सुरक्षित रख सकने में सफलता पाई है।

हम लोगों को बताया जाता है; पर मैं तो उस राजनीति में घुस कर निकला हूँ, मैं वास्तविकता को जानता हूँ। हम लोग सोचा करते थे कि जहाँ रोटी का प्रश्न रहता है, वहाँ बेईमानी रहती है; लेकिन आज मैं पढ़े-लिखों से सुनता हूँ कि रूस में 25 आदमियों के पीछे एक पुलिसमैन है, वहाँ तो रोटी का प्रश्न नहीं है। जहाँ रोटी का प्रश्न नहीं है, वहाँ इतनी पुलिस की आवश्यकता क्यों हो गई भाई? जहाँ रोटी का प्रश्न नहीं, वहाँ फौज की आवश्यकता क्यों हो गई भाई? जहाँ मानव-मात्र के साथ सद्भावना है ही, वहाँ विनाशकारी आविष्कारों की आवश्यकता क्यों हो गई भाई? सोचो जरा, गम्भीरता से विचार करो। यह सर्वथा भ्रमात्मक धारणा है कि राष्ट्र होकर हम सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं। गलत, बिलकुल गलत। हाँ, एक उपाय है। हमारे और आपके जीवन में राष्ट्रीयता आ जाय, जीवन में राष्ट्रीयता का सही उद्देश्य आ जाय, अर्थात् हम अपने साथ न्याय करना सीख जायँ। चाहे पिता-पुत्र की बात हो, अपने साथ न्याय करें; पति-पत्नी के बीच की बात हो, तो अपने साथ न्याय करें। भाई-भाई के बीच की बात हो, तो अपने साथ न्याय करें। दो वर्गों के बीच की बात हो, तो अपने साथ न्याय करें। दो देशों के बीच की बात हो, तो अपने साथ न्याय करें। दो इज़्मों के बीच की बात हो तो, दो मज़हबों के बीच की बात हो, तो। और यदि हम स्वयं अपने-अपने साथ न्याय करना आरम्भ कर दें तो राष्ट्रीयता आपके जीवन में अवश्य ही मूर्तिमान होकर अवतरित हो जायेगी और जिस समय राष्ट्रीयता आपके जीवन में आ जायगी, आप राष्ट्र ही नहीं, राष्ट्रपति बनने के सच्चे अधिकारी हो जायेंगे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। किन्तु मेरे भाई! आज दशा तो यह है कि कानून किताब में रहता है और डिपार्टमेंट बढ़ते चले जाते हैं और काम गलत होते जाते हैं। मेरा नम्र निवेदन केवल इतना ही था कि मानव-सेवा-संघ का प्रादुर्भाव समाज की व्यथा से हुआ, और जिसका प्रादुर्भाव व्यथा से हुआ, उसने यह कहा कि "हे मानव ! तू यदि राष्ट्र बनना चाहता है, तो अपना राजा बन जा, अपना मिनिस्टर बन जा, अपना जज बन जा। तू जब अपना जज बना जायगा, तब निस्सन्देह तेरे जीवन में निर्दोषता

सुरक्षित रहेगी और जिसके जीवन में निर्दोषता सुरक्षित रहती है, उसकी माँग जगत् को भी होती है, उसकी माँग प्रभु को भी होती है और वह अपनी दृष्टि में भी अपने को आदर के योग्य पाता है। निर्दोष-जीवन के बिना न हम जगत् के लिये उपयोगी होते हैं, न अपने लिये उपयोगी होते हैं और न प्रभु के लिये ही उपयोगी होते हैं। और वह निर्दोषता केवल राष्ट्रीयता के द्वारा, अर्थात् अपने प्रति न्याय करने से प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को प्राप्त हो सकती है।

अपनी ओर निहारो-3

हम स्वयं अपने नेता बनें और यह समझें कि नेता किसे कहते हैं? और राष्ट्र किसे कहते हैं? राष्ट्र में बल का उपयोग होता है और जो नेता है, वह समझदारी का उपयोग करता है, समझाता-बुझाता है। नेता उसी को कहते हैं। आपके जीवन में जो बुद्धि का स्तर है, समाज में वही नेता का स्तर है। आपके जीवन में जो मन का स्थान है, समाज में वही राष्ट्र का स्थान है। मन के द्वारा इन्द्रियों पर शासन होता है, किन्तु बुद्धि के द्वारा हम स्वयं अपने को समझाते हैं। जो अपने को समझा सके। क्या समझा सके? समझा सके कि जाने हुये का अनादर नहीं करूँगा, मिले हुये का दुरुपयोग नहीं करूँगा, सुने हुये प्रभु में अश्रद्धा नहीं करूँगा। आप श्रद्धा करें या न करें, आपकी रुचि। अगर आपने अपने को यह समझा लिया कि मैं जाने हुये का अनादर नहीं करूँगा, मिले हुये का दुरुपयोग नहीं करूँगा, सुने हुये प्रभु में अश्रद्धा नहीं करूँगा, तब परिणाम होगा कि जाने हुये का अनादर न करने से, सिर्फ अनादर न करने से, क्या होगा? जब आप जाने हुये का अनादर नहीं करेंगे, तब आपके जीवन में तीन प्रकार की स्मृति जाग्रत होगी, - कर्त्तव्य की स्मृति, स्वरूप की स्मृति और अपने प्रभु की स्मृति, अथवा यों कहिये कि जब आप जाने हुये का अनादर नहीं करेंगे, तब आपके जीवन में से संग का नाश होगा, असंगता प्राप्त होगी। आपके जीवन में से अकर्त्तव्य का नाश होगा, कर्त्तव्य-परायणता प्राप्त होगी। आपके जीवन में से आसक्तियों का नाश होगा, प्रेम का प्रादुर्भाव होगा। जाने हुये के आदर में ही कर्त्तव्य-परायणता, असंगता और आत्मीयता निहित है। दूसरी बात यह कि जब आप मिले हुये का दुरुपयोग नहीं करेंगे, तब सबल और निर्बल में एकता होगी। यह जो सुन्दर समाज का निर्माण होता है, यह खाली स्कीमों से नहीं होता है योजनाओं से नहीं होता है, कानूनों से नहीं होता है। सुन्दर समाज का निर्माण होता है-बल का दुरुपयोग न करने से, मिले हुये का दुरुपयोग न करने से। जब हम मिले

हुये का दुरुपयोग नहीं करते हैं, तब हमारे द्वारा दूसरों के अधिकार सुरक्षित होते हैं और जब हमारे द्वारा दूसरों के अधिकार सुरक्षित होते हैं, तो परस्पर एकता होती है। जब एकता होती है, तो स्नेह की वृद्धि होती है, विश्वास की वृद्धि होती है। जब परस्पर स्नेह और विश्वास की वृद्धि होती है, तब जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। तब अपने आप एक ऐसे सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है कि जिसको पुलिस की, फौज की, न्यायालय की, लड़ाई के सामान की जरूरत ही नहीं होती। इस बात को सुनकर मेरे बहुत से मित्र यह सन्देह करते हैं, कहते हैं, "महाराज! आप ऐसी जो बात कहते हैं, वह व्यक्तिगत रूप से तो बिलकुल ठीक मालूम होती है; किन्तु सामूहिक रूप से ऐसा होना सम्भव नहीं है।" परन्तु यदि आप गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तो आपको यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जो बात हमारे अहं में आ जाती है, वह विभु हो जाती है। आप सोचिये कि पहले आपको किस का भास होता है? आप कहेंगे कि स्वयं अपना-यानी 'मैं हूँ'। इससे यही तो सिद्ध हुआ कि आपसे पुराना इस दृश्य में कोई नहीं है। यह कल्पना नहीं है, एक वैज्ञानिक तथ्य है। इसमें दार्शनिक रहस्य है। आपके अहं से पुराना इस सारी सृष्टि में कोई नहीं है। अत: सृष्टि का कोई भाग ऐसा नहीं है कि जहाँ अहं न हो। अहं विभु है; लेकिन विभु होने पर भी उसके गुणों में भेद होता है। अहं बुद्धि से भी सूक्ष्म है और सूक्ष्म होने के नाते सबसे अधिक व्यापक है। इसीलिये वह बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म है। बुद्धि मन से सूक्ष्म है, मन इन्द्रियों से सूक्ष्म है और इन्द्रियाँ इस दृश्य से सूक्ष्म हैं। अत: जो न्याय, जो ईमानदारी, जो प्रेम, जो श्रद्धा, जो विश्वास और जो सच्चरित्रता स्वयं आपके जीवन में आ जाती है, वह व्यापक हुये बिना नहीं रह सकती। इसीलिये व्यक्ति की सुन्दरता पर ही समाज की सुन्दरता निर्भर करती है। और इसीलिये यह बात कही गई है कि व्यक्ति अपने जीवन को सुन्दर बना कर ही समाज में सुन्दरता ला सकता है। जीवन सुन्दर कैसे होता है? जीवन सुन्दर होता है, सत्संग से। और हम सत्संग करने में क्या स्वाधीन नहीं है? हैं, सभी स्वाधीन हैं। अपने जीवन में से अपने जाने हुये असत् के त्याग में हम सभी स्वाधीन हैं। कोई भाई, कोई बहिन ऐसी नहीं है, जो सत्संग में स्वाधीन न हो। सत्संग का अर्थ है 'है' का संग। 'है' माने, जो मौजूद है। तो, मौजूद का संग करने में कोई पराधीन नहीं है। ऐसा मैं अपनी भाषा में कहता हूँ; मैं बे-पढ़ा-लिखा आदमी हूँ, इसलिए उसमें कुछ दोष रह जाते हैं। यहाँ पर 'मौजूद' का अर्थ वैसा नहीं है, जैसा कि 'आप लोग यहाँ मौजूद हैं' ऐसा कहने में है।

एक होता है मिला हुआ, एक होता है प्राप्त। मिला हुआ वही है, जिसको आप 'यह' कहकर सम्बोधन करते हैं, और प्राप्त वह है जिसको आप 'है' करके सम्बोधन करते हैं। और किसको मिला है? जिसको आप 'मैं' करके सम्बोधन करते हैं। तो 'मैं' को कुछ मिला है और भाई, और कुछ मौजूद है। जब मैं पहले मिले हुये में ममता करता हूँ, तो असत् का संग हो जाता है, और मौजूद में आस्था करता हूँ, तो सत् का संग हो जाता है। सत् का संग होते ही वह ज्ञान जिसको गुरु ने कहा है - 'यह गुरु का ज्ञान है।' वह ज्ञान जिसको शास्त्रों ने कहा है - 'यह शास्त्र का ज्ञान है', वह ज्ञान जिसको पीर और पैगम्बर ने कहा है कि यह पीर और पैगम्बर का ज्ञान है, वही ज्ञान आपके जीवन में स्वत: अवतरित होता है, स्वत: स्फुरित होता है। ऐसा क्यों? यह मंगलमय विधान है, यों। इसी आधार पर मानव-सेवा-संघ ने कहा कि "हे मानव ! तू क्यों निराश होकर बैठा है? तू क्यों हार मानकर बैठा है? तू क्यों भय से भयभीत होकर बैठा है?"

एक दिन मैं मानव-सेवा-संघ के निर्माण निकेतन आश्रम राँची में बैठा हुआ था। एक विदेशी डॉक्टर आये, जो लिटरेचर के डॉक्टर थे। उन्होंने एक प्रश्न किया। वे हिन्दी नहीं जानते थे और मैं इंगलिश नहीं जानता था। मेरे चार-पाँच मित्र वहाँ बैठे हुये थे। उन्होंने कहा-"महाराज, हमारे सामने एक प्रौबलम है, समस्या है और वह यह है कि आज ऐसे विनाशकारी आविष्कार हो गये हैं जिनको देखकर आशंका होती है कि संसार का न जाने कब नाश हो जाय! इस सम्बन्ध में आपका क्या विचार है? मैंने अपनी मिली हुई प्रेरणा के अनुसार कहा-"मेरे भाई, मुझे तो लेशमात्र भी इसका भय नहीं है।" बोले, क्यों? मैंने कहा, "जो व्यक्ति सृष्टि बना नहीं सकता, उसको चैलेंज है कि वह उसे मिटा भी नहीं सकता।" उसने कहा-सोचता मैं भी ऐसा ही था, परन्तु उसे कहने का मेरा साहस नहीं होता था। उसने अपनी डायरी निकाली और नोट कर लिया। हमारे देश के लोगों में और दूसरे देश के लोगों में एक बड़ा अन्तर है। हमारे देश के लोग इस बात पर ध्यान देते हैं कि बोलने वाला कौन है, उसका मुँह कैसा है, उसकी शिक्षा-दीक्षा क्या है, आदि। विदेशी ऐसा नहीं करते। वे, जो बोला गया, उस पर विचार करते हैं। हमारे देश की आज यह दशा है कि जो मुझसे प्रेम करते हैं, वे मेरे व्याख्यान के बाद उठ जायेंगे। जो स्वामी जी महाराज से प्रेम करते हैं, वे उनके व्याख्यान के बाद उठ जायेंगे। क्योंकि उन्हें इससे मतलब नहीं कि बात क्या है। उन्हें तो सिर्फ इससे मतलब है कि मुँह कौन-सा है? यह मुँह कौन-सा है, यह भाषा कौन-सी है? यह तरीका कौन-सा है? परन्तु जहाँ आप लोग भाषा पर दृष्टि रखते हैं, मुँह पर

दृष्टि रखते हैं, तरीके पर दृष्टि रखते हैं और जो शब्द कहे गये, उनके अर्थ पर दृष्टि नहीं रखते, वहाँ यही परिणाम होता है कि दिमागी उन्नति तो बहुत हो जाती है, मस्तिष्क में संग्रह तो बहुत हो जाता है; लेकिन हृदय का पल्ला बहुत नीचे गिर जाता है। क्रियात्मक जीवन बहुत निम्नकोटि का हो जाता है। परन्तु वह विदेशी जिज्ञासु भाई, हम लोगों की भाँति नहीं था। उसने डायरी निकाली, नोट किया और मुझे विश्वास दिलाया कि मैं आपका यह सन्देश अपने देश में कहूँगा। कहने का मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि आप इस बात से हार मान कर न बैठ जायँ कि हम साधारण प्राणी हैं, भला हम सृष्टि के लिए कैसे उपयोगी हो सकते हैं? परन्तु मैं सच कहता हूँ, यह मिथ्या धारणा है।

साधना की अभिव्यक्ति के लिये जीवन के सत्य को स्वीकार करो-1

मिली हुई वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है और देखी हुई सृष्टि का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी हम कामना नहीं करेंगे, और जिस पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, उसमें ममता नहीं करेंगे। तो दो बातें सामने आती हैं, - अगर हम शरीर से ममता नहीं करते और संसार की कामना नहीं करते, तो निर्मम होने से निर्विकारता और निष्काम होने से चिर-शान्ति प्राप्त होती है। अब यह जो निर्विकारता और चिरशान्ति आपको प्राप्त हुई, यह आपकी उपार्जित वस्तु नहीं है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि निर्विकारता का तत्त्व स्वाभाविक तत्त्व है और शान्ति का तत्त्व भी स्वाभाविक तत्त्व है। ऐसे ही असंगता से प्राप्त स्वाधीनता है। वह भी स्वाभाविक तत्त्व है। इसी प्रकार आत्मीयता से प्राप्त जो अखण्ड-स्मृति तथा अगाध-प्रियता है, वह भी स्वाभाविक तत्त्व है। तो निर्विकारता, शान्ति, मुक्ति और अखण्ड-स्मृति तथा अगाध-प्रियता का स्वतन्त्र अस्तित्व है। अब देखिये, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसी को हमें पसन्द करना चाहिये। यदि इस बात को आप मान लें तो बड़ी सुगमतापूर्वक साधन-तत्त्व से, साधना से अभिन्न हो सकते हैं। परन्तु हम सबसे गलती यह होती है कि निर्मम होना पसन्द नहीं करते और हमारे पास यदि धन है, तो उसको अपना मानकर लोभ करते हैं। यदि ऐसा न करें, तो धन के लोभ की उत्पत्ति ही नहीं होती है। इस प्रकार धन से आपकी कोई हानि नहीं होती, हानि तो उसे अपना मानने से होती है; क्योंकि धन से तो लोभ की उत्पत्ति है ही नहीं, लोभ की उत्पत्ति हुई धन को अपना मानने से।

जो साधक 'अपना' मान करके दान भी कर देता है, तो महाराज! उलटी ही प्रतिक्रिया होती है। हमारे पास अभी एक बहिन ने कुछ रुपया भेजा है,- अपनी बहिन का रुपया-आप जानकर ताज्जुब करेंगे कि उसके लिये उन्होंने अपनी तीन पुश्तों के नाम लिखाने को कहा है कि अमुक-अमुक के नाम लिखा दें। लेकिन सोचिये तो सही, दान देने के बाद भी, उस धन के बदले में न जाने क्या-क्या चाहते हैं। अब आप सोचिये, उसका परिणाम यही होगा कि हम धन देने का सुख-भोग, नाम और यश की दासता में बँध गये।

ऐसी दशा में क्या धन से हमारा सम्बन्ध टूट गया? या हम निर्लोभ हो गये? क्या यह सम्भव होगा? परिणाम यही होगा कि इस प्रकार के दान से हमको यश और नाम तो मिल गया; लेकिन वह दान जो दिया गया, उसके बदले में यदि आपने आत्म-ख्याति चाही, उसका फल चाहा, तो आपने दिया या लिया? यह ऐसा ही दान हुआ जैसे कोई-कोई किसान खेत में बीज डाले और कहे कि हमने भूमि को दाना भेंट कर दिया, दान दे दिया। यह तो भूमि जानती है कि इसने जो एक दाना डाला है, उसके बदले में मुझसे कई गुना उसे लेना चाहता है। तो, लेने के लिए जो दिया जाता है, वह दान नहीं है। वह पुण्य कर्म कहलाता है, वह त्याग नहीं कहलाता। उससे आपको निर्दोषता प्राप्त नहीं हो सकती, उससे आपको निरभिमानता प्राप्त नहीं हो सकती।

इसलिये मानव-सेवा-संघ ने कहा कि "ऐसा मानो, जीवन के इस सत्य को स्वीकार करो कि मुझे जो कुछ मिला है, वह मेरा नहीं है। अगर आप यह बात मान लेंगे, तो निर्विकारता आ जायगी। उसके बदले में मुझे कुछ नहीं चाहिये-यह बात मान लें, तो चिर-शान्ति आ जायगी। और फिर सृष्टि पर मेरा कोई अधिकार नहीं है-अगर इस सत्य को मान लेंगे, तो असंग होकर स्वाधीनता प्राप्त हो जायगी। ऐसे ही, जब प्रभु को आप अपना मान लेंगे, तो प्रियता आ जायगी।"

अब आप देखिये, जितनी साधना है, वह सत्य को स्वीकार करने से प्राप्त हुई, साधना सत्य को स्वीकार करने से आप में प्रकट हो गई। परन्तु हम सत्य को स्वीकार करना तो छोड़ देते हैं और सत्-कार्य, सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन को पकड़ लेते हैं। मैं यह नहीं कहता कि सत्-कार्य नहीं करना चाहिये या सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन नहीं करना चाहिये। ऐसा मेरा मत नहीं है। लेकिन सत्संग से वंचित होकर, सत्संग से विमुख होकर, हमारा किया हुआ जो सत्कार्य है, हमारा किया हुआ जो सत्-चिन्तन है, हमारी की हुई जो सत्-चर्चा है, उसका वह फल नहीं होगा कि जीवन में साधना की अभिव्यक्ति हो जाय, और हम साध्य से अभिन्न हो जायँ।

साधना की अभिव्यक्ति के लिये जीवन के सत्य को स्वीकार करो-2

जीवन के सत्य को स्वीकार किये बिना, सत्संग से वंचित होकर, सत्संग से विमुख होकर-हमारे किये सत्कार्य का, सत्-चिन्तन का और हमारी की हुई सत्-चर्चा का यह फल नहीं होगा कि हमारे जीवन में साधना की अभिव्यक्ति हो जाय और हम सत्य से अभिन्न हो जायें। यही कारण है कि आज आप समय का बहुत बड़ा भाग सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन में लगा देते हैं और समय और सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग आप सत्-कार्यों में लगा देते हैं। आपने समय और सम्पत्ति को सत्-कार्यों में लगाया, आपने सत्-चर्चा और सत्-चिन्तन किया। परन्तु सत्संग न करने से आपके जीवन में साधना की अभिव्यक्ति नहीं हुई। और जब जीवन में साधना की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब साधना हमारे लिए एक भार हो जाती है, एक अस्वाभाविक बात हो जाती है। कभी-कभी, आपने देखा होगा कि बड़े उत्साह से, बड़े प्रेम से हम नित्यकर्म करने बैठ गये, किया और जिस समय नित्यकर्म पूरा हो जाता है, उस समय जैसी 'रिलीफ' आपको मालूम होती है, वैसी रिलीफ नित्यकर्म करते समय मालूम होती है क्या? आपने इस विषय में विचार नहीं किया होगा तो ठीक उत्तर दे नहीं पायेंगे। आप कभी अनुभव करके देखिये। आप किसी भी अनुष्ठान को करने के लिये तत्पर हो जाइये। जिस समय अनुष्ठान सम्पन्न होता है और आप थोड़ी देर के लिए न करने की स्थिति में आते हैं, उस समय जैसा संतोष आपको मालूम होता है, वैसा संतोष अनुष्ठान-काल में नहीं मालूम होता।

भागलपुर में एक महात्मा बड़े यज्ञ कराया करते हैं, बहुत से यज्ञ उन्होंने कराये हैं। और उनके यज्ञों में लाखों रुपये का व्यय होता है, और लाखों रुपया एकत्रित भी हो जाता है,— ऐसे यज्ञ कराते हैं वे। हमने सोचा कि चलें, महात्मा से भेंट कर आवें। जब हम उनसे भेंट करने गये, तो उनके मुँह से सबसे पहले यही बात निकली-'महाराज, ऐसी कृपा कीजिये कि अनुष्ठान सानन्द सम्पन्न हो जाय'। उन्होंने यह कहा तो ठीक ही कहा-सच्ची बात ही कही। पर हमें लगा कि हमने जो सोचा था कि ये अनेक यज्ञ कर चुके हैं, लाखों रुपये व्यय कर चुके हैं, तो ये बिलकुल निश्चिन्त जरूर होंगे। पर ऐसी बात नहीं थी, ऐसा होता नहीं है। कितना भी बड़ा काम कीजिए और सफल भी हो जाइये, फिर भी उस कार्य की पूर्ति-काल में जो सन्तोष होता है, वह कार्य-काल में नहीं होता। एक बात। दूसरी बात यह है कि कार्य के द्वारा

आपको जो थोड़ा सा सन्तोष होता है, वह पुनः कार्य करने के संकल्प को जन्म दे देता है। यह बड़ी ऊँची बात है, बड़ी गम्भीर बात है। मानव-सेवा-संघ ने कहा-तुम पहले सत्य को स्वीकार करो, सत्य को स्वीकार करने से अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति मिटेगी। यह पहले मिटेगी। और जब अकर्त्तव्य मिट जायगा, तब जो कर्त्तव्य-परायणता आयेगी और जब आसक्ति मिट जायगी, तब जो प्रियता आयेगी, वह कर्त्तव्य-परायणता, वह असंगता और वह प्रियता आपके जीवन में साधना के रूप में प्रकट होगी, यानी वह आपकी साधना हो जायगी और जब साधना के रूप में असंगता, कर्त्तव्य-परायणता और प्रियता आपको प्राप्त होगी, तब निर्विकारता, शान्ति, मुक्ति और भक्ति भी आपको प्राप्त हो जायगी। ऐसी बात नहीं है कि कर्त्तव्य-परायणता के बिना आपको निर्विकारता और शान्ति मिल जाय, असंगता के बिना आपको मुक्ति मिल जाय और आत्मीयता के बिना भक्ति मिल जाय। यह कभी नहीं होगा। भक्ति जब मिलेगी, तो आत्मीयता से ही मिलेगी और मुक्ति जब मिलेगी, तो असंगता से ही मिलेगी, निर्विकारता जब मिलेगी, तब निर्ममता से ही मिलेगी और चिर-शान्ति जब मिलेगी, तो निष्कामता से ही मिलेगी। यह जीवन का अटल सत्य है।

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था कि निर्मम होना, असंग होना, अथवा परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना- यह सत्संग हुआ। अगर आप सत्संग करेंगे, तो साधना स्वतः प्रकट हो जायगी। और महाराज, साधना और साध्य में विभाजन नहीं होता, साधना और साध्य में दूरी नहीं रहती, भेद और भिन्नता नहीं रहती। तो, साधना साध्य से अभिन्न हो जायगी। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। परन्तु जीवन में साधना की अभिव्यक्ति होनी चाहिये और साधना की यह अभिव्यक्ति एक-मात्र सत्संग से ही होगी, अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकती। आप सोचिये कि सत्संग के बिना भी आप बलपूर्वक साधना तो कर सकते हैं, लेकिन वह जीवन के साथ अभिन्न नहीं होगी। इस प्रकार की हुई साधना से आप अपने को अलग अनुभव करेंगे और बलपूर्वक की हुई साधना को अलग अनुभव करेंगे और कहेंगे कि आज मैंने इतनी देर ध्यान किया। ध्यान अलग और आप अलग। आज मैंने इतना जप किया। जप अलग और आप अलग। आज मैंने इतना तप किया। तप अलग और आप अलग। आज मैंने इतना दान दिया। दान अलग और आप अलग। इस प्रकार की भिन्नता रहेगी ही और जब इस प्रकार की भिन्नता रहेगी, तो 'आपका' जो अस्तित्व रहेगा, वह साधन रूप नहीं हो पाएगा। इसलिये सत्संग के द्वारा आपके अस्तित्व में ही,-किसी और में नहीं-आपके अस्तित्व में ही, साधना की अभिव्यक्ति हो जायेगी।

जब मनुष्य के अस्तित्व में साधना की अभिव्यक्ति हो जाती है, तो फिर असाधन की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि अगर साधन से अलग यदि अपना कोई अस्तित्त्व रहता, तो सम्भव है, फिर कभी असाधना आ जाती। लेकिन जब साधक की साधना से भिन्न उसका अलग कोई अस्तित्व रहता ही नहीं, तो फिर सदा के लिये असाधन का नाश हो जाता है, और जब असाधन का नाश सदा के लिये हो गया, तो फिर साधना और साध्य तो अभिन्न हैं ही, बल्कि ऐसा कहना चाहिये कि साधना तो साध्य की ही महिमा है, और कुछ नहीं है। तो साधना का जो रूप हुआ वह साधक का जीवन भी है और साध्य की महिमा भी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साध्य की महिमा साधक का जीवन है। यह बड़े रहस्य की और गम्भीर बात है। साध्य की महिमा, और महिमा किसे कहते हैं? महिमा का अर्थ होता है, जो हमें आकर्षित कर सके, खींच ले। इस प्रकार हमारा जीवन ही साध्य की महिमा हो गई। तो फिर महिमा हम को खींच लेगी न। जरूर खींच लेगी। इसी सत्य को समझाने के लिए हमने विद्वान् महानुभावों के श्रीमुख से सुना है कि परमात्मा, जिसे पसन्द करता है, उसको स्वयं वरण कर लेता है। अब प्रश्न होगा कि परमात्मा किसे पसन्द करता है? मानव-सेवा-संघ की विचार-धारा के अनुसार इसका उत्तर होगा कि जो सत्संग के द्वारा अपने में साधना को प्रकट कर लेता है, अथवा सत्संग के द्वारा जिसमें साधना प्रकट हो जाती है, परमात्मा उसी को पसन्द करता है।

सत्संग एवं श्रम-रहित साधन की महत्ता-1

मानव-सेवा-संघ 'विचार-संघ' है, प्रचार-संघ नहीं। इसलिये अभी जो चर्चा आपके सामने करनी है, वह जीवन उपयोगी है। कल सायंकाल की चर्चा में सम्भवत: ऐसा निवेदन किया था कि हम सब भाई-बहिन इस बात को ठीक-ठीक जानते हैं कि सुषुप्ति में अर्थात् गहरी नींद में हम बे-सामान और बे-साथी के होते हुये भी दु:ख से रहित होते हैं, और उसी सुखद अनुभूति को हम लोग, प्राय: जगने पर कहते हैं कि आज बड़े आराम से सोये, बड़ा मजा रहा, इत्यादि। अर्थात् बे-सामान और बे-साथी के होने पर भी हम सुख भोगते हैं: किन्तु उसकी वास्तविकता क्या है, उसको ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर पाते। यदि आप यह जानना चाहते हैं कि बिना सामान व साथी के और बिना परिश्रम के जो जीवन है, वह जीवन क्या है? तो उसके लिये जाग्रत-सुषुप्ति आवश्यक है। जाग्रत-सुषुप्ति कैसे होती है? इस सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि जिस समय आप अपने आवश्यक कार्य को पूरा

करके श्रम-रहित होते हैं तथा दूसरे किसी कार्य का आरम्भ नहीं करते, यानी एक कार्य की समाप्ति और दूसरे कार्य के प्रारम्भ करने से पूर्व, उस मध्य काल में किये हुये का स्मरण आता है अथवा जो करना चाहते हैं, उसका चिन्तन होता है। इस दशा को हम सभी समझते हैं। सभी उससे परिचित हैं। इसी दशा को लोगों ने 'मन की चंचलता' के नाम से कथन किया है, और इसी भ्रम के फलस्वरूप ऐसा कहने लगते हैं कि हम तो जैसे होंगे वैसे होंगे, पर मन हमारा बहुत ही चंचल है। और मन के सुधार की बात आज का साधक-समाज प्राय: कहता-सुनता रहता है। बड़े-बड़े गुरु-शिष्य-सम्वाद के रूप में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं-मन के स्वरूप को समझाने के सम्बन्ध में। किन्तु इस विषय में मेरा ऐसा नम्र निवेदन है कि जो करण है वह कर्त्ता नहीं होता।

कोई भी फाउण्टेनपेन लेखक नहीं है। इसी न्याय के अनुसार कोई मस्तिष्क, कोई भी करण, शरीर का कोई भी अवयव अथवा शरीर कर्त्ता नहीं है। फिर कर्त्ता कौन है? आप कहेंगे, शरीर से अतीत, दिव्य चिन्मय परम तत्त्व जो आत्मा-परमात्मा है। क्या वह कर्त्ता है? वह कर्त्ता नहीं है। क्यों? क्योंकि कर्त्ता वह होता है, जो भोक्ता हो। वह भोक्ता है नहीं। वह क्या है? वह सर्व का आश्रय है, सर्व का प्रकाशक है, किन्तु कर्त्ता है नहीं। और 'यह' करके जिसे आप सम्बोधन करते हैं वह भी कर्त्ता नहीं है। तो कर्त्ता फिर कौन है? यह एक दार्शनिक प्रश्न है। इस दार्शनिक प्रश्न पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो और जिससे वह मिल जाय, उसी जैसा भासित होने लगे, वही देवता कर्त्ता है। उसी का नाम है-'मैं'। यह 'मैं' न 'यह' है, न 'वह'। यह "मैं" जब जाग्रत-सुषुप्ति को प्राप्त करता है, अर्थात् जाग्रत में जब सुषुप्त हो जाता है, तब उसे इस बात का स्वयं बोध हो जाता है कि मैं बिना सामान के, बिना साथी के, बहुत ही आराम से रह सकता हूँ। सुख-दु:ख में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे मुझ तक पहुँच सकें। इसी की चर्चा कल प्रवचन समाप्त करते समय की गई थी।

मुझ जैसा पराधीन व्यक्ति कोई नहीं मिलेगा। मेरे ऊपर बहुत से 'आर्डीनेन्स' लगे हुए हैं-इतना बोलो, इतना मत बोलो, इतना खाओ, इतना लेटो, आदि-आदि। मैं यह निवेदन कर रहा था कि "जाग्रत-सुषुप्ति" का नाम ही "मूक सत्संग है"। और यदि मैं यह कह दूँ कि इसी का नाम 'सत्संग' है, तो कोई अत्युक्ति की बात नहीं होगी। कोई भाई बिगड़ न जायँ, मेरी वाणी जरा कटु है। आज की दुनियाँ में साधक-समाज में आप जानते हैं, क्या हो रहा है? सत् की चर्चा को सत् का संग कहने लगे हैं। अगर कोई पोथी पढ़

रहा है, तो सत्संग, कोई साधन कर रहा है, तो सत्संग। अगर कोई व्याख्यान दे रहा है, तो सत्संग। यह आज की प्रचलित प्रथा है। मेरा निवेदन है कि यह सब सत्संग नहीं है। 'सत्संग' का अर्थ है, सत् का संग, अविनाशी का संग, नित्य-प्राप्त का संग।' मिले हुये की ममता का नाम सत्संग नहीं है। अप्राप्त की कामना का नाम सत्संग नहीं है। किसी इन्द्रिय-जन्य, बुद्धि-जन्य श्रम का नाम सत्संग नहीं है। सत्संग का अर्थ ही है कि 'है' का संग। और 'है' का संग होता है तब, जब जाग्रत-सुषुप्ति हो। जाग्रत-सुषुप्ति कब होती है? वह तब होती है, जब आप आवश्यक कार्य को पूरा करने के पश्चात्, अनावश्यक कार्य का त्याग करने के पश्चात्, अल्प काल के लिये, काम-रहित होते हैं, श्रम-रहित होते हैं, तब। उस समय 'है' का संग होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ? हमें सत् का संग करना नहीं है, वह तो होगा। यहाँ एक और सूक्ष्म बात है और वह यह कि सत् का संग होगा तभी, जब सत्संग की अभिरुचि, सत्संग की उत्कट लालसा जीवन में हो। सत् के संग के बिना 'मैं' एक क्षण भी चैन से नहीं रह सकता-इस प्रकार की तीव्र लालसा, उत्कट लालसा, जीवन में सत्संग की हो। इस प्रकार की लालसा से यह होगा कि असत् के त्याग का बल आप में आ जायेगा। और जब असत् का त्याग का बल आप में आ जायेगा, तब सत् का संग स्वतः हो जायेगा।

अब आप विचार करें वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म पर, जिसके लिये शरीर की अपेक्षा, योग्यता की अपेक्षा, सामर्थ्य की अपेक्षा आपको है। वह वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म सत्संग में बाधक नहीं है। आप कितने ही कर्मठ क्यों न हों, 24 घण्टे में 18 घण्टे काम करें, 20 घण्टे काम करें। मैं ऐसे साधकों को जानता हूँ, जिनके सम्बन्ध में मैंने सुना है कि वे केवल 2 घण्टे आराम करते हैं और 22 घण्टे काम करते हैं। जो भी हो, काम कितना ही अधिक आपके सामने हो; किन्तु वह वर्तमान का कर्त्तव्य-कर्म हो और उस कर्म के फल में आपकी आसक्ति न हो, उस किये हुये कर्म का अभिमान न हो, करने की आसक्ति न हो। इस विधान के अनुसार आप चाहे जितना कार्य करें, कार्य के अन्त में आपको सत् का संग, अविनाशी का संग, 'है' का संग स्वतः हो जायगा। किन्तु यदि आप कार्य का फल चाहते हैं, तो सत् का संग होने पर भी आपको शक्ति मिलेगी। इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु आपकी निष्ठा 'सत्' में नहीं होगी, आपकी प्रियता 'सत्' में नहीं होगी। तब यह होगा कि जो शक्ति आपको मिलेगी, फिर उसको आप श्रम-युक्त जीवन में व्यय कर देंगे। कैसे? जो शक्ति मिलेगी, उसको व्यय करके आप फिर असमर्थता में आबद्ध होंगे। इस विपत्ति से बचने के लिये प्रत्येक भाई-बहिन के लिये यह अनिवार्य है कि आवश्यक कार्य के अन्त में, उससे श्रम-रहित होकर सत् का संग करना

चाहिये, चाहे यों कहो। चाहे यह कहो कि सत् का संग सुरक्षित रहना चाहिये। क्यों? यह इसलिये कि इसी सत् के संग से जिज्ञासा-पूर्ति के लिये विचार का उदय होगा, कर्त्तव्य-पालन के लिये सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होगी और प्रभु से मिलने के लिये विरह की जागृति होगी। देखिये, भजन किसी अभ्यास का नाम है-ऐसा, कम से कम मैं व्यक्तिगत रूप से बिलकुल नहीं मानता हूँ। भजन का अर्थ क्या है? भजन के दो भाग हैं- एक भाग है-सेवा और दूसरा प्रियता। सेवा प्रवृत्ति-काल में और प्रियता निवृत्ति-काल में। इसका नाम है, भजन। तो यह जो भजन है, यह सत्संग से स्वत: होता है। मुझे तो इस बात में बिलकुल भी संदेह नहीं है। किन्तु मैं इस बात को आपके सामने इस रूप में नहीं कहना चाहता कि आप इसको मान ही लें। मुझे अपनी ईमानदारी पर पूरा विश्वास है। मैं प्रमाण नहीं देता। नहीं तो, अनेक प्रमाण दे सकता हूँ। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन केवल इतना ही था कि अगर आपको भजन सचमुच अभीष्ट है, तो भी सत्संग चाहिये और यदि साधन अभीष्ट है, तो भी सत्संग चाहिये।

आप जानते ही हैं कि साधन किसे कहते हैं। असाधन-रहित होने पर जब परम शान्ति की, स्वाधीनता की, अमरत्व की, चिन्मय-जीवन की अभिव्यक्ति होती है, उसी को साधन कहते हैं। साधन और जीवन में विभाजन नहीं हो सकता।

सत्संग एवं श्रम-रहित साधन की महत्ता-2

बड़े दु:ख के साथ मुझे यह कहना पड़ता है कि आज का साधक ऐसा कहता है कि "मैं साधन करता हूँ, और असाधन होता है।" जरा सोचिये तो सही, असाधन माने क्या? यही न कि जिसकी उत्पत्ति असत् के संग से हुई हो। तो वह तो, आप कहते हैं कि होता है और साधन आप करते हैं। किये हुये का अन्त स्वाभाविक रूप से अपने आप हो जाता है। अत: इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में-साधन करने का अभिमान और असाधन की वेदना में फँसे हुये साधक को देखकर मुझे बड़ी पीड़ा होती है। और ऐसा लगता है कि हाय-हाय! साधनयुक्त मानव-जीवन आज किस दुर्दशा में पड़ा है।

मेरा नम्र निवेदन है कि मानव-जीवन का एकमात्र पुरुषार्थ स्वत: होने वाले सत्संग को सुरक्षित रखने में है, और किसी बात में नहीं है। यही है, आपका पुरुषार्थ। और कर्त्तव्य-कर्म जो है, वह मिले हुये के सदुपयोग में है। यह है, आपका पुरुषार्थ ! मेरा निवेदन है कि जाग्रत-सुषुप्ति को प्राप्त किये

बिना आप जीवन से वंचित हैं। कारण कि, यह वर्तमान जीवन की माँग है, यह वर्तमान की बात है। यह धीरे-धीरे होने वाली बात नहीं है, यह कालान्तर में होने वाली बात नहीं है। इसी आधार पर मैं यह मानता हूँ कि अल्प-से-अल्प काल में भी मानव सिद्धि प्राप्त कर सकता है। क्यों? सिद्धि का हेतु एकमात्र सत्संग है और सत्संग वर्तमान में सिद्ध हो सकता है। इसी दृष्टि से मैं पूछता हूँ कि आज का साधक-समाज अपनी असफलता से पीड़ित क्यों नहीं है? आप कैसे चैन से जीते हैं? आप कैसे चैन से सोते हैं? आप कैसे चैन से खाते हैं? असाधन के साथ-साथ साधन के आधार पर। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यही इसका कारण है। कोई भी भाई, कोई भी बहिन, सर्वांश में असाधनयुक्त नहीं हैं, जो साधन करते हैं वे और जो साधन नहीं करते हैं वे भी। सभी भाई, सभी बहनों के जीवन में असाधन आंशिक ही है। सर्वांश में असाधन, सर्वांश में अकर्त्तव्य, सर्वांश में आसक्ति किसी भाई में नहीं, किसी बहिन में नहीं। और जो लोग शिक्षित भी हैं, दीक्षित भी हैं, वे मुझे क्षमा करें। मेरी भाषा कटु हो जाती है कभी-कभी। इसलिये मैं डरता हूँ कि आपका दिल न दु:ख जाय। शिक्षा भी है, दीक्षा भी है, और चाट गये साधुओं के चरणों को, चाट गये पुस्तकालय के पुस्तकालय। और कहाँ तक बताऊँ, इससे आगे की अपनी व्यथा, अपना दु:ख। यही मेरा दु:ख है। अजी जनाब ! उपनिषदों और वेदान्त पर टीकायें कर डालीं और फिर भी दशा यह है कि ममता नाश नहीं हुई, कामना नाश नहीं हुई। और बुद्धिमानी यह कि बात समझ में तो आती है, ठीक भी है, पर जीवन में नहीं उतरती। मैं नहीं सोच पाता कि इस दु:खद दशा में आप चैन से कैसे जीते हैं? क्या आप नहीं सोचते कि सत्य क्या देश-काल की दूरी पर है? क्या सत्य कालान्तर में प्राप्त होता है? जो सत्य वर्तमान जीवन की वस्तु है, आप आज उसके बिना चैन से रहते हैं और लेबिल लगा हुआ है कि हम साधक हैं। हम 20 वर्ष से सत्संग करते हैं, हम 30 वर्ष से सत्संग करते हैं, हम 50 वर्ष से सत्संग करते हैं। इस सब दुर्दशा को देखकर मेरा हृदय फटता है। मुझे बड़ी व्यथा होती है। मैं इस दुर्दशा को मानव-जीवन का अपमान मानता हूँ, कलंक मानता हूँ।

मेरा नम्र निवेदन है कि सत्संग श्रम-रहित जीवन में स्वत: सिद्ध है। आवश्यक कार्य पूरा करने पर, अनावश्यक कार्य का त्याग करने पर श्रम-रहित जीवन का अनुभव स्वत: होता है-कर्त्तव्य-पथ। विवेकपूर्वक अचाह, अप्रयत्न, निर्मम, निष्काम होने पर स्वत: सत् का संग होता है-विचार पथ। और अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत होने पर स्वत: सत् का संग होता है-विश्वास-पथ ! आप किसी भी पथ के साधक हों, इसमें

कोई भी अन्तर नहीं पड़ता है। सत्संग की दृष्टि से ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, भौतिकवादी, अध्यात्मवादी, किसी मजहब का, किसी इज़्म का, किसी देश का, किसी वर्ग का भाई हो, बहिन हो, कोई भी हो, मनुष्य होने के नाते वह सत्संग का जन्मजात अधिकारी है, और जो सत्संग का अधिकारी है, उसके जीवन में असाधन का नाश, साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होगी। जब साधन की अभिव्यक्ति होगी, तब साधन और जीवन में एकता हो जायगी। साधन और जीवन की एकता होने पर हम सब, चाहे जिस परिस्थिति में हों, कृतकृत्य हो जायेंगे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मानव-सेवा-संघ का प्रादुर्भाव हुआ है। मेरा नम्र निवेदन यह था कि सत्संग के बिना आप न रह सकें। भूखे रह जायँ, नंगे रह जायँ, बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सह लें, पर सत्संग के बिना न रहें। यह बात तभी सम्भव होगी, जब आप इस बात को स्वीकार करें कि मानव-जीवन के पुरुषार्थ की परावधि एक-मात्र सत्संग में है। आप जानते हैं। कि सत्संग से क्या मिलता है? सत्संग से चार बातें जीवन में आ जाती हैं। आज प्रात:काल का प्रस्तावित विषय था-उदारता। जिसको सत्संग प्राप्त है, उसके जीवन में उदारता आ जाती है, उसे उदार बनना नहीं पड़ता, प्रयत्न नहीं करना पड़ता। बोलो! उदारता का अर्थ क्या है? उदारता का अर्थ है कि जिसका हृदय दुखियों को देख करुणित हो जाय, सुखियों को देख प्रसन्न हो जाय। उसे सोचना नहीं पड़ता, उसे इस बात का अभ्यास नहीं करना पड़ता कि मेरा ऐसा काम हुआ कि नहीं हुआ। क्यों? सत्संग होने से सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति होती है। सत्संग होने से विश्व के साथ एकता का बोध हो जाता है। आप जानते हैं कि जो अपना है और सुखी है, क्या उसे देखकर प्रसन्नता नहीं होगी? जो अपना है और दुखी है, उसे देख करुणा नहीं जाग्रत होगी? यह है मानव-सेवा-संघ की सेवा। इसमें क्या है? इसमें रस है, सुख नहीं है। रस में और सुख में एक बड़ा भेद है। रस उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है, कभी घटता नहीं और सुख उत्तरोत्तर घटता रहता है, कभी बढ़ता नहीं। सुख उत्तरोत्तर घटता रहता है, रहता नहीं, और रस उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है, कभी मिटता नहीं। आप कहेंगे कि बस! दूसरी बात क्या मिलती है? परम शान्ति। परम शान्ति में भी रस है। जिस प्रकार उदारता में रस है उसी प्रकार परम शान्ति में भी रस है। और तीसरी चीज़ क्या मिलती है? स्वाधीनता। स्वाधीनता में भी रस है और चौथी चीज़ क्या मिलती है? प्रेम की प्राप्ति, इसमें भी रस है। इस प्रकार मानव का जीवन रस से परिपूर्ण हो जाता है, रस से।

आप बड़े से बड़े विज्ञानवेत्ताओं से, मनोविज्ञानवेत्ताओं से पूछें और उनसे कुछ न कहें कि हमारे जीवन में काम आदि विकारों की उत्पत्ति क्यों

होती है? अगर ठीक मनोविज्ञान का ज्ञाता है, तो उसे ईमानदारी से कहना पड़ेगा कि नीरसता के बिना काम की उत्पत्ति नहीं होती। काम की उत्पत्ति के बिना दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार दोषों का मूल कारण निकला नीरसता। और रस कहाँ है? उदारता में। रस कहाँ है? शान्ति में। रस कहाँ है? स्वाधीनता में। रस कहाँ है? प्रेम में। उदारता कहाँ है? सत् के संग में। परम शान्ति कहाँ है? सत् के संग में। स्वाधीनता कहाँ है? सत् के संग में। प्रेम कहाँ है? सत् के संग में।

सत्संग में श्रम-रहित साधन की महत्ता-3

अब आप विचार करें कि मानव-जीवन और सत्संग-इन दोनों में कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारे एक भाई आज बहुत बिगड़ रहे थे। मैंने पूछा, बताओ तो भाई, क्या अपराध मुझसे हो गया? मैंने आपसे निवेदन किया कि मेरे समान पराधीन आपको कोई दूसरा नहीं मिलेगा। हर आदमी का मुझ पर अधिकार है कि मुझको डाँटे। मुझ पर सभी का यह अधिकार है। ऐसा मेरा जीवन है, यह मेरा दु:ख नहीं है। कहते हैं- "देखिये, आप सत्संग-समारोह करते हैं और उस पर इतना खर्चा। आपको सत्संग-समारोह बहुत ही सादगी के साथ करना चाहिए। नहीं, तो और कोई हिम्मत नहीं करेगा, उत्साहित नहीं होगा।" मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इतने खर्चे के बाद अगर एक भी भाई के जीवन में, एक भी बहिन के जीवन में जीवन की माँग जाग्रत हो जाय, तो उस पर सारे विश्व की सम्पत्ति निछावर कर देना भी कम है। आपने सत्संग का महत्त्व नहीं समझा, नहीं समझा! सत्संग के लिए हँसते-हँसते प्राण दिये जा सकते हैं। सत्संग के लिए क्या नहीं दिया जा सकता? सब कुछ दिया जा सकता है। इसलिये भाई मेरे, सत्संग का मूल्य चुकाने के लिए मैं सत्संग का ऋणी हूँ। सच कहता हूँ, मैं सत्संग के बदले में कुछ भी नहीं कर सका। इसलिये मेरा निवेदन है कि आप यह सोचें कि सत्संग जीवन की कितनी आवश्यक वस्तु है। अगर आपके जीवन में सफलता होगी, तो सत्संग से ही होगी। अगर जीवन में असफलता है, तो वह असत् के संग से है। इसलिए मेरे भाई ! प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में सत् का संग सुरक्षित रहे, इसके लिए आप अथक प्रयत्नशील बने रहें। सफलता अनिवार्य है। परन्तु अधीर नहीं होना है, घबड़ाना नहीं है, वरन् बड़े ही धीरज के साथ इस बात पर विचार करना है कि अब हम सत्संग के बिना किसी भी प्रकार नहीं रहेंगे। देखिये, सत्संग के जो सहयोगी अंग हैं, जो उपाय हैं, जो प्रकार हैं-यद्यपि वास्तविक सत्संग का एक ही प्रकार है, और वह है- जो 'है'

उसका संग। संग किस प्रकार होता है? इस पर थोड़ा विचार कीजिये। आस्था से संग होता है, अभिन्नता से संग होता है और आत्मीयता से संग होता है। जैसे अविनाशी जीवन है, आप नहीं जानते कि वह कैसा है, और कहाँ है। पर केवल आप इतना स्वीकार करें कि "अविनाशी जीवन है।" यहीं से सत्संग आरम्भ हो गया।

अब अविनाशी जीवन कैसा है? इसके जानने से पूर्व जो चीज अविनाशी नहीं है, उसको जानें। जैसे, दो चीजें यदि आपके सामने रख दी जायें और उनमें से यदि एक को आप जानते हैं, तो दूसरी चीज का यह ज्ञान आपको अपने आप हो जायगा कि यह उसकी जाति की नहीं। तो, जो अविनाशी जीवन में आस्था तो करते हैं, परन्तु अविनाशी जीवन को जानते नहीं, उन्हें यह देखना चाहिये कि जो जीवन अविनाशी नहीं है, वह क्या है? इस प्रकार आपको स्वत: इस बात का अनुभव हो जायगा कि उत्पन्न हुई वस्तुओं का जो सम्बन्ध है, यानी उनसे जो ममता है, उनसे जो तादात्म्य है, उनकी जो कामना है, यह सब उस जीवन के साथ है, जो अविनाशी नहीं है। बताइये, कौन भाई इस बात को नहीं जानता? तो उत्पन्न हुई वस्तु क्या है? यही न कि जिसे आप देखते हैं। एक बात। उत्पन्न हुई वस्तु क्या है? जिसके विषय में आपको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारे पास है। तो, जो चीज आपको मिली हुई है, उसी का नाम है - 'उत्पन्न हुई वस्तु'। सोचिये कि उसकी ममता, उसकी कामना, उसका तादात्म्य, यह किसका संग हुआ? यह उसका संग हुआ, जो अविनाशी नहीं है। आप मिली हुई वस्तु आदि की ममता छोड़ दें-वस्तु न छोड़ दें। मैं यह बात नहीं कहता कि आप मुझको दे दें, गंगा में फेंक दें; लेकिन इस बात को आप अनुभव करें- मानें नहीं, श्रद्धा न करें, इस बात पर विश्वास न करें- अनुभव करें कि जिस वाणी से मैं बोलता हूँ, क्या यह मेरी है? अगर मेरी है, तो अपने से पूछें कि उस पर कितने दिन मेरा अधिकार रहेगा? तुरन्त उत्तर मिलेगा। महाराज ! आप स्वयं कहेंगे कि "एक घड़ी वह आयेगी और यह सम्भव है कि बोलने की रुचि तो रह जाय, किन्तु बोलने की शक्ति चली जाये। जीवन की यह घड़ी बड़ी भयंकर घड़ी है। मुझसे अगर कोई पूछे कि जीवन का सबसे काला समय कौन सा है? तो मैं कहूँगा-जब मैं बोलना चाहूँ, पर बोल न सकूँ; देखना चाहूँ, पर देख न सकूँ: सुनना चाहूँ, पर सुन न सकूँ: सोचना चाहूँ, पर सोच न सकूँ: करना चाहूँ, पर कर न सकूँ। यही जीवन की सबसे भयंकर घड़ी है। अत: इस घड़ी के आने के पूर्व, बोलने के अन्त में, न बोलने में जो जीवन है, देखने के अन्त में न देखने में जो जीवन है, श्रवण के अन्त में, न सुनने में जो जीवन है, सोचने के अन्त में,

न सोचने में जो जीवन है, यदि उस जीवन को आपने प्राप्त कर लिया, यदि उस जीवन के साथ आपकी एकता हो गई, उस जीवन में यदि आपकी आस्था हो गई, उस जीवन के प्रति यदि आप में माँग जाग्रत हो गई, तो आप निस्सन्देह उसी जीवन को पायेंगे, जो आज तक किसी ऋषि को मिला हो, मुनि को मिला हो, पीर को मिला हो, पैगम्बर को मिला हो; किसी मज़हब के भाई को मिला हो, किसी इज़्म के भाई-बहिन को मिला हो। यानी, वह जीवन जो बड़े से बड़े मानव को मिला है, आपको भी मिलेगा।

इसलिए, मेरे भाई! वस्तुओं के आश्रय से आप मानव-जीवन की पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकते। वस्तुओं का उत्पादन करें, वस्तुओं का सदुपयोग करें, वस्तुओं से व्यक्तियों की सेवा करें। आलसी-अकर्मण्य न बन जायें। लेकिन थोड़ी-थोड़ी देर बाद आप उस जीवन के लिये प्रयास करें, जो जीवन बिना वस्तुओं के आपके पास है, जो जीवन बिना व्यक्तियों के सहयोग से मिल सकता है, उस जीवन के लिये भी आप आतुर रहें, व्याकुल रहें; उसको प्राप्त करने का प्रयास करें, इसी का नाम पुरुषार्थ है। तो मेरा नम्र निवेदन है कि हमारे-आपके सामने आज जो जीवन की घड़ियाँ मौजूद हैं, वे बड़ी सुनहरी घड़ियाँ हैं, वे बड़ी मूल्यवान् घड़ियाँ हैं। इतनी मूल्यवान कि यदि आप चाहें, तो अपना सब कुछ देकर, बदले में एक घड़ी भी नहीं पा सकते। यानी आप किसी चीज़ के बदले में समय प्राप्त नहीं कर सकते। समय लगाकर आप न जाने क्या-क्या प्राप्त कर सकते हैं। इस मूल्यवान् समय को सत्संग के बिना खो देना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है।

मेरा नम्र निवेदन है कि आप मानव हैं। आपके जीवन का बड़ा महत्त्व है, आपका बड़ा महत्त्व है। आप सत्संग के लिये मानव हैं और किसी उद्देश्य के लिये मानव नहीं हैं। जितने दोषों की उत्पत्ति होती है, जितने विकारों की उत्पत्ति होती है, संसार में जितने विप्लव मचते हैं, उसके मूल में, अगर आप गम्भीरता से देखेंगे, तो उसका कारण मिलेगा-असत् का संग। यदि आप सर्वतोमुखी विकास चाहते हैं, यदि आप अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण चाहते हैं, तो आपको सत्संग अपनाना ही पड़ेगा। यही वह कार्यक्रम है, जिसे प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहिन प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनतापूर्वक पूरा करके अपने कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में भाग ले सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। मेरा निवेदन है कि हम लोग उस सत्संग के बिना, जिसकी प्राप्ति में आप सर्वदा स्वाधीन हैं, चैन से न रहें। सत्संग होते ही असाधन का नाश होगा, अकर्त्तव्य का नाश होगा। और आप साधन से, कर्त्तव्य-परायणता से अभिन्न होंगे। यानी कर्त्तव्य-परायणता और आपका

जीवन, साधन और आपका जीवन, उदारता, परम शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम तथा आपका जीवन एक होगा। उदारता से आप जगत् के लिए उपयोगी होंगे, शान्ति और स्वाधीनता से आप अपने लिए उपयोगी होंगे, प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी होंगे। यह है आपके मानव-जीवन की महिमा, जो एक-मात्र सत्संग से साध्य है।

असाधन-रहित साधन-1

प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में दो व्यक्ति भी समान नहीं हैं। रुचि में भेद, योग्यता में भेद, सामर्थ्य में भेद; परन्तु माँग मानव-मात्र की एक है। जिस प्रकार भूख एक है, किन्तु भोजन सबका अलग-अलग है; उसी प्रकार मानव-मात्र की वास्तविक माँग एक है। किन्तु रुचि-भेद से, योग्यता-भेद से, सामर्थ्य-भेद से उस माँग के क्रियात्मक साधन अलग-अलग हैं। विचार इस बात पर करना है कि जब क्रियात्मक साधन अलग-अलग हैं और माँग एक है, तो यह अलग-अलग जो साधन हैं, वह जीवन में कैसे अवतरित हों? इस पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि यदि हम लोग अपने-अपने जीवन में से अपने-अपने जाने हुए दोषों का त्याग कर दें, की हुई भूल को न दोहरायें, अर्थात् जो न करने वाली बातें हैं, उनको करना छोड़ दें, तो करने वाली बातें प्रत्येक भाई-बहिन के जीवन में जो अलग-अलग हैं, वे स्वत: होने लगती हैं। आज हमसे भूल यह होती है कि हम अपनी रुचि का अध्ययन किये बिना, योग्यता का अध्ययन किये बिना, सामर्थ्य का अध्ययन किये बिना साधन करने लगते हैं और बलपूर्वक साधन करने लगते हैं। यद्यपि कोई भी साधन गलत नहीं है, परन्तु देखना यह है कि जो विध्यात्मक साधन हमने करना आरम्भ किया है, क्या वह हमें रुचिकर है? क्या उसके सम्बन्ध में हमें कोई सन्देह नहीं है? क्या वह हमारी सामर्थ्य के अनुरूप है? तो जो साधन रुचि के, सामर्थ्य के अनुरूप होता है, जिसमें साधक को सन्देह नहीं होता, उस साधन में और जीवन में गहरी एकता हो जाती है। रुचिकर होने से मन लग जाता है, सन्देह-रहित होने से बुद्धि लग जाती है, और सामर्थ्य के अनुरूप होने से हमारी सारी शक्तियाँ उसमें लग जाती हैं। इसका अर्थ है कि जिसमें आपकी सारी योग्यता लग जाय, सारी सामर्थ्य लग जाय, वह साधन और आपका जीवन एक हो जाय। इसी का नाम तो साधन है। आज का साधक कहता है- "क्या बतायें, करना तो चाहते हैं, पर उसमें मन ही नहीं लगता।" यह प्रश्न इस बात को सिद्ध करता है कि जो साधन करना आपने आरम्भ किया है, उसमें आपने अपनी रुचि, सामर्थ्य, योग्यता का अध्ययन नहीं

किया। उस साधन में और आपकी रुचि में कोई भेद है, उस साधन में और आपकी सामर्थ्य में कोई भेद है, उस साधन में और आपकी योग्यता में कोई भेद है। इसीलिये आपके सामने यह परिस्थिति है कि जो बात आप करना चाहते हैं, उसे कर नहीं पाते हैं।

साधन कठिन नहीं है। साधन सहज है। साधन का अर्थ क्या है? जिसे आप कर सकें। और जिसे आप कर सकते हैं, वह कठिन हो ही नहीं सकता। और अगर आप अपने को थोड़ा भी बचाते हैं, तो कर नहीं सकते। पूरी शक्ति लगाने पर जो बात की जा सकती है, उसी का नाम साधन है। अब आप विचार करें कि जब पूरी शक्ति लगाकर जो बात की जा सकती है और उसी का नाम साधन है, तो फिर साधन करने में प्रत्येक भाई स्वाधीन है या नहीं? प्रत्येक बहिन स्वाधीन है या नहीं? क्यों? अरे भाई ! आपके पास जो शक्ति है, उसे लगा दो। आप साधन कर सकेंगे, सिद्धि आपको मिलेगी। किन्तु आपको जो सिद्धि नहीं मिलती है, उसका कारण यह है कि हम अपनी पूरी शक्ति लगाकर साधन नहीं करते और पूरी शक्ति लगाकर साधन इसलिये नहीं करते कि जो साधन करना हमने आरम्भ किया है, वह हमें रुचिकर नहीं है, उसके सम्बन्ध में हम सन्देह-रहित नहीं हैं, वह हमारी सामर्थ्य के अनुरूप नहीं है। इसी कारण हम पूरी शक्ति नहीं लगा पाते।

मानव-सेवा-संघ का कहना यह है कि साधन सभी सिद्धि-दायक हैं, पर जब वे असाधन-रहित हों तब। वे तभी सिद्धि-दायक हो सकते हैं। हम आज असाधन को बनाये रखकर बड़े-बड़े साधन करते हैं। महाराज! हमें ऐसे उदाहरण मालूम हैं जिनको सुनकर आपको आश्चर्य होगा। बात बहुत पुरानी नहीं है। अंग्रेजी राज्य के जमाने में जब ब्लैक-मार्केटिंग का बड़ा जोर था, उस समय एक ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ व्यापारी थे, जिनके यहाँ ब्लैक नहीं होता था। किसी ने मुझसे कहा कि नहीं, उनके यहाँ भी ब्लैक हुआ था। वे मेरे मित्रों में से थे। मैंने उनसे पूछा कि लोग ऐसा-ऐसा कहते हैं, यद्यपि मैं तो विश्वास नहीं करता हूँ। उन्होंने बड़ी ही ईमानदारी से जवाब दिया कि लोग ठीक कहते हैं कि हमारे यहाँ ब्लैक हुआ था। मैंने पूछा, वह कैसे हुआ? तो उन्होंने बताया कि हमारी दुकान का जितना कोटा था, उतना पूरा माल हमारी दुकान पर बिकता नहीं था। इसलिए हम लोगों ने विचार किया कि माल अगर मिल-ओनर (mill-owner) पर छोड़ देते हैं, तो वह उसे ब्लैक में बेचेगा। अगर उसे किसी दूसरे व्यापारी को दिये देते हैं, तो वह भी ब्लैक में बेचेगा। इसलिए हम लोगों ने विचार किया कि यह ठीक होगा कि हम स्वयं ही उसको ब्लैक में बेचें। और माल उन्होंने ब्लैक में बेचा भी, अपनी दुकान पर

नहीं, दूसरी जगह, दूसरे नगर में, और इसमें उन्हें थोड़ा-बहुत नहीं, लाखों की तादाद में रुपया मिल गया। परन्तु आपको जानकर आश्चर्य होगा कि यह सबका सब पूरा रुपया उन्होंने दान में दे दिया-स्कूल आदि खुलवा दिये। अपने परिवार के ऊपर उसमें से एक पैसा भी खर्च नहीं किया। आप कहेंगे कि उन्होंने यह तो बड़ा अच्छा किया। लेकिन जरा सोचिये तो सही, महत्त्व चरित्र का रहा कि अर्थ का? गम्भीरता से सोचिये-अर्थ ने चरित्र पर विजय प्राप्त कर ली। उपस्थित लोभ से तो अपनी रक्षा कर ली, लेकिन किये हुये पुण्य कर्म से कीर्ति मिलेगी, किये हुए पुण्य कर्म का फल मिलेगा। इससे ऊपर तो वे अपने को नहीं रख सके। मेरा निवेदन केवल यह था कि हम आज यह सोच ही नहीं पाते कि चरित्र का महत्त्व क्या है, और वस्तु का महत्त्व क्या है? वस्तुओं के लिये हम आज अपने चरित्र की ओर नहीं देखते, पद के लिये हम अपने चरित्र की ओर नहीं देखते, कामना-पूर्ति के लिए हम अपने चरित्र की ओर नहीं देखते। उसी का यह परिणाम होता है कि एक ओर तो हम बड़ी अच्छी-अच्छी बातें करते हैं; परन्तु यह बड़ा कठिन है कि लाखों रुपया मिल जाय और उस सबको दान में देकर प्राप्त होने वाले कीर्ति, यश, सम्मान आदि के लालच से हम अपनी रक्षा कर सकें। क्या यह सिद्ध नहीं करता कि हम जीवन में अपने चरित्र की बलि चढ़ाकर अर्थ की उपासना में रत रहते हैं? इसलिये मेरा नम्र निवेदन है कि आप साधन तो बड़े-बड़े करते हैं जप-तप करने में भी कोई कसर नहीं रखते, और ये सभी साधन सिद्धिदायक भी हैं, इसमें मुझे लेशमात्र भी संदेह नहीं है। परन्तु उस साधन के साथ-साथ असाधन क्यों है जीवन में? इस पर भी तो विचार कीजिये, मेरे भाई! इसीलिए साधकों के जीवन में आज असफलता दिखाई देती है। अतः मेरा निवेदन है कि आप अल्प-से-अल्प साधन करें, किन्तु असाधन-रहित होकर करें।

असाधन-रहित साधन-2

अल्प-से-अल्प साधन भी सिद्धिदायक होता है, परन्तु वह तभी सिद्धिदायक होता है, जब हम असाधन-रहित होकर साधन-रत हों, केवल तभी। इस सम्बन्ध में एक और गम्भीर बात है, और वह यह है कि आप जिसे साधन कहते हैं, वह वास्तव में है क्या? वह है साध्य का स्वभाव। साधन का अर्थ क्या है भैया? जिससे साध्य की उपलब्धि हो, और साधन का अर्थ क्या है? कि जो साधक का जीवन हो। तो, जो साधन, साधक का जीवन नहीं बन पाता, अर्थात् साधक और साधन में जब तक विभाजन दिखाई देता है, तब तक तो यही कहना पड़ेगा कि साधन का निर्माण नहीं हुआ। आप कह

सकते हैं कि यह हम कैसे मान लें? कुछ-न-कुछ तो साधन होता ही है। परन्तु भाई, जरा गम्भीरता से विचार करें, तो दिखाई देगा कि कुछ-न-कुछ साधन तो उसके जीवन में भी है कि जो साधन नहीं करते। आप पूछेंगे-कैसे? अच्छा, कल्पना कीजिये, किसी ने सत्य बालने का व्रत नहीं लिया; लेकिन क्या वह सभी से झूठ बोलता है? क्या ऐसा कोई झूठ बोलने वाला देखा है आपने जो सभी से झूठ बोले, सदैव झूठ बोले और सर्वांश में झूठ बोले? आपको एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा। अत: जिसने सत्य बोलने का व्रत नहीं लिया, आंशिक दृष्टि से तो वह भी सत्य बोलता है। तो, साधन का अर्थ यह नहीं है साहब, कि कुछ-न-कुछ तो जीवन में है ही। भैया, कुछ-न-कुछ साधन तो सभी के जीवन में रहता ही है। तो प्रश्न यह है कि जीवन में आंशिक असाधन क्यों है? यह प्रश्न नहीं है कि 24 घण्टे में आप 10 घण्टे साधन करते हैं और 14 घण्टे क्यों नहीं करते-यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि 24 घण्टे में 23 घण्टे, 59 मिनट, 59/60 सेकेण्ड आप साधन करते हैं, किन्तु 1/60 सेकेण्ड का फिर असाधन क्यों है जीवन में? जब इस दृष्टि से आप विचार करके देखेंगे कि हमारे जीवन में, चाहे अल्प-से-अल्प हो, असाधन है क्यों? जब इस बात पर विचार करेंगे और जब अपने जीवन में अपने असाधन को ठीक-ठीक जान लेंगे, देख लेंगे, सोच लेंगे, समझ लेंगे कि यह सचमुच हमारे जीवन में असाधन है और जिस वक्त अपने असाधन को देखेंगे, उस समय वह असाधन भूतकाल का मालूम होगा, वर्तमान का मालूम नहीं होगा। जिस समय आप अपना निरीक्षण कर रहे होंगे, उस समय असाधन करते हुए आप अपने को नहीं पायेंगे। उस समय तो आप अपने को बिलकुल निर्दोष पायेंगे; क्योंकि वर्तमान सभी का निर्दोष है। परन्तु निरीक्षण करने से आप यह जरूर जान पायेंगे कि भूतकाल में हमारे जीवन में अमुक असाधन था। और अमुक असाधन हमारे वर्तमान जीवन में है-ऐसा ईमानदारी से कोई व्यक्ति नहीं कह सकता। कोई कहे, महाराज! मैं झूठ बोलता हूँ। यदि मैं पूछूँ कि यह जो तुम मुझसे कह रहे हो, यह झूठ है क्या? कहा, नहीं, ऐसा तो नहीं है। तो देखिये कि इस समय तो आप झूठ नहीं बोल रहे हैं, जरा विचार कीजिये। तो आज हम लोग करते क्या हैं? माफ करेंगे प्रचारक महानुभाव, माफ करेंगे नेता महानुभाव, माफ करेंगे जिन्होंने गुरुपन का पेशा किया है। जिनका हृदय साधक की पीड़ा से पीड़ित है, उनसे मेरा यह कथन नहीं है; अपितु उनसे है, जिन्होंने यह पेशा कर लिया है। आप कहेंगे, आपको क्या पता? मुझको पता है। एक आदमी मेरे पास आया-बहुत दिन की बात है, बिहार का रहने वाला था। उसने कहा, "मुझे क्या करना चाहिए?" मेरी जैसी

आदत है उसके अनुसार मैंने उसकी रुचि और योग्यता को देखकर कुछ सुझाव दे दिया। इसके थोड़े दिन बाद ही आकर वह बोला, "भगवान् ! यह आपका अपना चेलवा है।" मैंने पूछा, "क्या?" जवाब मिला, "यह मेरा चेला है।" मैंने विस्मयपूर्वक कहा, "तैने भी चेला बनाना शुरू कर दिया?" मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि आज साधकों के पीछे तो गुरु पड़ा हुआ है हाथ धोकर और जनता के पीछे नेता पड़ा हुआ है और आपको मालूम ही होगा कि परिवार में जो पैसा कमाता है, वह परिवार की छाती पर चढ़ा हुआ है ! बड़ी ही दुर्दशा है आज मानव-समाज की।

आज का समाज स्वाधीनतापूर्वक सोच ही नहीं पाता इन नेताओं के मारे और आज का साधक शान्तिपूर्वक सोच ही नहीं पाता इन गुरुओं के मारे। अनन्त भय देंगे, अनन्त प्रलोभन देंगे, कहेंगे-ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो। अरे बाबू ! तुम क्यों परेशान हो? तुम कुछ भी करो, जीवन-मुक्ति से बढ़िया तो ये भक्त लोग तुम्हें कुछ दे नहीं सकते। जीवन-मुक्ति से बढ़िया कुछ दे सकें, शान्ति से बढ़िया कुछ दे सकें, दु:ख-निवृत्ति से बढ़िया कुछ दे सकें, यह तो सम्भव नहीं। फिर क्यों हाथ धोकर पीछे पड़े हो उनके? थोड़ा चैन से रहो, चैन से रहने दो। सोचो तो सही, जिस साधन को तुम सिखाने चले हो, वह साधन क्या तुम्हारे जीवन में सिद्धिदायक हो गया? एक बात। दूसरी बात, गम्भीरता से विचार करें-तुम्हारी रुचि और जिसको तुम साधन सिखाते हो, उसकी रुचि समान है? योग्यता समान है? परिस्थिति समान है? आप नहीं सिद्ध कर सकते। तो फिर अपना किया हुआ साधन भी यदि आप बताते हैं, तब भी क्या आप ठीक साधन बताते हैं? अरे, जब रुचि में, योग्यता में, सामर्थ्य में भेद है, तब जिस साधन से तुमको सिद्धि मिली, उस साधन से उसको भी सिद्धि मिलेगी- बिलकुल गलत बात है। क्यों? क्योंकि रुचि में, योग्यता में, सामर्थ्य में भेद है। तो बताने वाली बात क्या रह गई? केवल एक बात, और यह कि आप उससे कहिये कि आप मानव हैं, आप साधन-निष्ठ हो सकते हैं। आप अपनी जानी हुई बुराई छोड़ दें, की हुई बुराई न दोहरावें। आप स्वत: साधननिष्ठ हो जावेंगे-इसमें सन्देह की कोई बात नहीं है।

मेरा नम्र निवेदन था कि यदि यह बात आप साधक समाज से कहते हैं और वह भी करुणित हुए बिना कहते हैं, तो इसका भी कुछ अर्थ नहीं होगा। यदि आपका हृदय साधकों की असफलता से पीड़ित है और उस समय आप उसको केवल इतना विश्वास दिला देते हैं कि भैया ! मानव होने के नाते सिद्धि तुम्हें मिल सकती है और इसके लिये यही एक दायित्व तुम पर है कि तुम अपने जीवन में से अपनी की हुई भूल को निकाल दो, जानी हुई बुराई

को मत करो। तुम्हें सिद्धि मिल जायगी। अगर आपको अपने व्यक्तित्व की पूजा करानी है, तो इतनी बात से ही आपके व्यक्तित्व की पूजा भी होगी। पूजा ही नहीं होगी, आपका जीवन स्वयं इतना ऊँचा उठ जायगा कि न चाहने पर भी समाज आपके जीवन का अनुसरण करेगा। और पराधीनताओं में, शासनों में दबा हुआ साधक आपको रोम-रोम से आशीर्वाद देगा कि हाय, मैं कितनी विवशताओं में फँसा हुआ था, कितनी पराधीनता में आबद्ध था ! आज मुझे स्वाधीनता का पथ मिला है। आपकी श्रद्धा कम नहीं हो जायगी। आपका वैभव कम नहीं हो जायगा। आपकी सेवा कम नहीं हो जायगी। किन्तु इससे साधक का कल्याण होगा।

मेरा यह निवेदन है कि **मानव-सेवा-संघ** किसी साधन-प्रणाली का विरोधी नहीं है, किसी भी साधन-प्रणाली का। किन्तु कोई भी एक साधन ऐसा हो नहीं सकता, जो सभी के लिये समान रूप से हितकर हो। कम से कम मैं यह बात नहीं मानता; क्योंकि न करने वाली बात एक होती है, करने वाली बात अलग-अलग होती हैं। तब एक ही प्रकार की करने वाली बात पर आप सभी पर क्यों जोर डालते हैं? इसी का तो परिणाम हुआ कि आज ईसाई तो करोड़ों देखने को मिलेंगे; किन्तु ईसा नहीं मिलेगा। क्यों, क्या ईसा का बताया हुआ साधन गलत था? नहीं-नहीं-नहीं। वह गलत बिलकुल नहीं था। किन्तु जिस साधन को ईसा कर सकते थे, उसे हर ईसाई नहीं कर सकता। क्यों? दो व्यक्ति भी समान रुचि, समान योग्यता, समान परिस्थिति के नहीं हैं। आज आप स्वयं देख लीजिये। करोड़ों मुसलमान तो मिलेंगे, किन्तु मुहम्मद कितने मिलेंगे? करोड़ों बौद्ध मिलेंगे, किन्तु बुद्ध कितने मिलेंगे? करोड़ों की संख्या में भगवान शंकराचार्य के पीछे चलने वाले मिलेंगे, लेकिन शंकराचार्य कितने मिलेंगे? आप विचार तो करें। जिन लोगों का यह विश्वास है कि एक जैसे साधन से सभी को सिद्धि मिल सकती है, उनका यह विश्वास आज कितना भ्रमात्मक सिद्ध हो रहा है। मेरा नम्र निवेदन था कि जो सत्य ईसा को मिला, जो सत्य मुहम्मद को मिला, जो सत्य बुद्ध को मिला, जो सत्य भगवान शंकराचार्य को मिला, जो सत्य भगवान रामानुजाचार्य को मिला, जो सत्य किसी आचार्य, पीर, पैगम्बर को मिला, वह सत्य तो आपको मिल सकता है; लेकिन जिस प्रकार से उनको मिला, उसी प्रकार से आपको भी मिल जायगा-यह बात गलत है। इस बात को स्वयं आपका जीवन सिद्ध करता है, मैं नहीं कहता हूँ। आपका जीवन ही कहता है कि आपने साधन करने में समय लगाया, शक्ति लगाई, आंशिक सफलता भी मिली; किन्तु सर्वांश में सफलता नहीं मिली। इसका एकमात्र कारण यही है कि न करने वाली बातों

को करते हुये, और न करने वाली बातों के करने मात्र से सिद्धि नहीं मिलेगी। इसलिये जो नहीं करना चाहिए, उसका त्याग पहले ही करना पड़ेगा। उसके पश्चात् जो करना चाहिए, उसकी अभिव्यक्ति आपके जीवन में स्वतः होगी। और वही साधन आपका साधन होगा और उसी से आपको सिद्धि मिलेगी।

असाधन-रहित साधन-3

सिद्धि तो सभी भाइयों को, सभी बहिनों को मिल सकती है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। परन्तु विध्यात्मक साधन अर्थात् करने वाली बात सभी के लिए एक नहीं हो सकती; वह अलग-अलग होगी। और जो न करने वाली बातें हैं, वे सभी के लिए एक होंगी। आप पूछ सकते हैं, कौन-सी न करने वाली बातें हैं? विवेक-विरोधी न करने वाली बात, सामर्थ्य-विरोधी न करने वाली बात, रुचि-विरोधी न करने वाली बात। अगर कोई करने वाली बात है और वह आपके विवेक के विरुद्ध है, तो उसे नहीं करना चाहिए। रुचि के विरुद्ध है, तो नहीं करना चाहिए। सामर्थ्य के विरुद्ध है, तो नहीं करना चाहिए। क्यों? इसलिये कि आप कर नहीं पायेंगे और यदि कर भी डालेंगे, तो आपका ह्रास होगा, ह्रास ही होगा। कभी-कभी विवेक-विरोधी बात रुचिकर मालूम होती है, सामर्थ्य के अनुसार भी होती है; किन्तु उसको किसी भी प्रकार से करना नहीं है और कभी-कभी विवेक का विरोध नहीं होता, किन्तु रुचि और सामर्थ्य का विरोध होता है। तो विवेक का विरोध न होने पर भी, रुचि और सामर्थ्य का विरोध होने पर आप उस बात को सर्वांश में नहीं कर पायेंगे। तो जब साधन ही सर्वांश में सिद्ध नहीं होगा, तब सफलता मिलेगी कैसे? इसलिये किसी भी भय से भयभीत होकर अथवा किसी भी प्रलोभन से प्रेरित होकर विवेक-विरोधी बात को तो करना ही नहीं है। अब रही सामर्थ्य और रुचि-विरोधी बात। उसको छोड़ दें अभी, और यह देखें कि इस समय कौन-सी ऐसी बात है, जिसमें हमारी सामर्थ्य और रुचि का समर्थन है और जो विवेक के अनुरूप है, उसे कर डालें। उसके करने से या तो भविष्य में आपकी रुचि बदल जायगी, सामर्थ्य बढ़ जायगी या आपको सिद्धि मिल जायगी। तो यह आप कभी न सोचें कि आपको सिद्धि नहीं मिल सकती है। सिद्धि तो आपको मिल ही सकती है, सफल तो आप हो ही सकते हैं; परन्तु आप पर यह दायित्त्व है कि न करने वाली बात आप न करें और जो करने वाली बात है वह जब रुचिकर हो, सामर्थ्य के अनुरूप हो, तब उसको पूरा करें।

यदि आप कहें कि जब तक हमें रुचिकर और सामर्थ्य के अनुरूप साधन का ज्ञान ही न हो, तब तक क्या करें? तब तक न करने वाली बात न करते हुये आप आराम करें-पूर्ण विश्राम। क्यों? जहाँ करना है, वहाँ न करना भी साधन है। गलत करना असाधन है। अकर्मण्यता असाधन है। आलस्य असाधन है। लेकिन विश्राम और सही करना, ये दोनों ही साधन हैं। अत: जब तक आपको कोई रुचिकर साधन नहीं मालूम है, कोई ऐसा साधन नहीं ज्ञात है, जो आपकी सामर्थ्य के अनुसार हो, तब तक आप न करने वाली बातों के त्यागपूर्वक आराम करें। आराम से आपकी कोई क्षति नहीं होगी। तो होगा क्या? अगर आपके अहंभाव में करने की रुचि विद्यमान है और इस समय आप अपने कर्त्तव्य के ज्ञान से अपरिचित हैं, तो आराम करने से कर्त्तव्य की स्मृति स्वत: जाग्रत होगी और सामर्थ्य आयेगी। तो कर्त्तव्य का ज्ञान और उसको करने की सामर्थ्य आपको मंगलमय विधान से स्वत: मिलेगी। आराम की यह महिमा है। इसलिए न करने वाली बात न करने पर भी आपका सर्वतोमुखी विकास होगा और करने वाली बात करने पर भी आपका विकास होगा। किन्तु न करने वाली बात भी करते रहें और करने वाली बात करें, तो विकास कभी नहीं होगा। इसलिये मानव-सेवा-संघ ने प्रत्येक साधक से अपने से ऐसा पूछने की अपील की है, यह प्रार्थना की है कि "हे साधक! तू अपनी असफलता से पीड़ित क्यों नहीं है? तू क्यों नहीं देखता कि मेरे जीवन में सफलता क्यों नहीं है?" यदि असफलता है, तो उसका मतलब यह नहीं है कि तू सफलता का अधिकारी नहीं है। सफलता का तो तू अधिकारी है ही, परन्तु असाधन के साथ-साथ बलपूर्वक जो साधन करता है, इसीलिए तू असफल है। तो भाई, तात्पर्य यह निकला कि किसी भी प्रकार से, किसी भी परिस्थिति में असाधन नहीं करना है। उसके पश्चात् अगर किसी बाह्य गुरु की आवश्यकता होगी, तो यह जिम्मेदारी विधान पर है कि वह तुमको गुरु से मिला दे। अगर किसी भी प्रकार की सामर्थ्य की आवश्यकता होगी, तो यह दायित्व विधान पर है कि वह तुम्हें सामर्थ्य प्रदान करे। सारी अनुकूलताएँ, जिनके द्वारा साधन में सिद्धि होती है, आपको बिना माँगे मिलेंगी। यह विधान की बात है। इसलिए किसी भी साधक को कभी भी जीवन में सफलता से निराश नहीं होना चाहिये, हार मान कर नहीं बैठना चाहिये। परन्तु अपने को क्षमा भी नहीं करना चाहिये। अपने को क्षमा करने का अर्थ क्या है? "हम क्या करें, साहब, तुमने बात ही ऐसी कह दी कि हमें क्रोध आ गया।" बाबू! किसी की बात कहने से क्रोध आ गया, इसका अर्थ तो यह हुआ कि मछलियाँ कहें कि हम क्या करें, जल की लहरों से हम क्षोभित हो गये हैं।

भला जल की उछल-कूद मछलियों को क्षोभित करेगी? एक बात, अथवा मछलियों की उछल-कूद जल को क्षोभित करेगी? जरा सोचिये तो सही। सो तो नहीं कर सकती। तो मेरा निवेदन केवल यही था कि यदि कोई ऐसा कहे, "किसी ने ऐसी भूल की, इसलिये हमें क्रोध आ गया।" तो यह अपने को क्षमा करने की बात है। "हम क्या करें, हमें परिस्थिति ने मजबूर किया, इसलिए हमने ऐसा कर दिया।" यह अपने को क्षमा करने की बात है। परिस्थिति आपकी दासी है, स्वामिनी नहीं। आपके देखते-देखते न जाने कितनी परिस्थितियाँ बदल गईं। अरे, जिनमें स्थिरता नहीं है, उनकी दासता आप स्वीकार करते हैं, उनसे आप हार मानकर बैठते हैं? यह तो अपना बड़ा अपमान है। तात्पर्य यह कि किसी भी परिस्थिति में आप वह नहीं कर सकते, जो आपके जानते हुए नहीं करना चाहिये। इतनी सी बात है। इस बात को स्वीकार करना है और ऐसा मानकर कि यह हमारी ही बात है। यह किसी और की बात है, यह मानकर नहीं। क्यों? आप किसी को कितना ही प्यार करें; पर जितना अपने को प्यार करते हैं, उतना किसी दूसरे को कर नहीं सकते और अगर आप में यह सामर्थ्य आ जाय कि आप अपने से अधिक किसी को प्यार कर सकते हैं, तो प्रभु आपकी तलाश करेगा-"आओ भैया, आओ, मैं तुमसे मिलना चाहता हूँ। मुझे वह चाहिये जो अपने से अधिक मुझे प्यार करता हो।" क्या आप जानते हैं कि यह माँग किसकी है? यह माँग जगत्पति की है। वह किसके पीछे दौड़ता है? जो उसे अपने से अधिक प्यार करता हो।" क्या आप जानते हैं कि अपने से अधिक प्यार करने का अर्थ क्या है? जो शान्ति में रमण न करे, जो स्वाधीनता में सन्तुष्ट न हो, जो निर्विकारिता का रस न ले। वही अपने से अधिक प्यार कर सकता है। और यह प्यार करने की सामर्थ्य उसी साधक में आती है, जिसने यह स्वीकार कर लिया है कि मुझे अपने लिये जगत् से कुछ नहीं चाहिये, अपने से भी कुछ नहीं चाहिये, प्रभु से भी कुछ नहीं चाहिये, फिर भी मुझको प्यार चाहिये। तो जिनके जीवन में प्यार की अभिव्यक्ति होती है, वे ही इस प्रकार के साधक हो सकते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक होकर यदि आप अशान्ति से रहित होना चाहते हैं, दुःख से रहित होना चाहते हैं, पराधीनता से रहित होना चाहते हैं, तो शान्ति, स्वाधीनता आपको मिल नहीं सकती। मिलेगी, जरूर मिलेगी।

यह जीवन बहुत सुन्दर जीवन है, बहुत अच्छा जीवन है। परन्तु जो लोग यह कहते हैं कि "क्या बतायें, उन्होंने तो इतना प्यार किया कि हम मजबूर हो गये।" उनसे निवेदन है कि कोई आदमी आपको मजबूर करे, क्या

वह भी कोई प्यार है? नहीं महाराज, आज तो खा ही लो। अरे महाराज, खा ही लें। तो यह प्यार है या शासन है? प्यार है या आसक्ति है? निवेदन था कि हमें इस बात पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये कि आपका जीवन सफलता के लिये है और इसी परिस्थिति में आप सफल हो सकते हैं। परन्तु कब? जब आपके जीवन में आपकी जानी हुई बुराई न रह जाय। भलाई, आपको सौ बार गरज हो, तो करें या न करें; फल की आशा न रह जाय। मुझे किसी से कुछ लेना है, यह बात न रह जाय और अपने जीवन में अपनी जानी हुई बुराई न रह जाय। तो क्या होगा? बुराई-रहित विश्राम मिलेगा। बुराई-रहित होने पर जो विश्राम आपको मिलेगा, उसी विश्राम की भूमि में योग की, बोध की, प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। यह निर्विवाद सत्य है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

जानने, मानने तथा करने का स्वरूप-विवेचन—1

जैसा आप जानते व मानते हैं और जो करते हैं, इन तीनों में एकता रहनी चाहिये। आपका जाना हुआ, आपका माना हुआ और जो आपका किया हुआ है, उसमें भेद न हो। जाने हुये के अनुरूप करने से अकर्त्तव्य का नाश हो जाता है। और जैसा आप मानते हैं, उसके अनुसार यदि आप अपने जीवन को बना लें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक आपका हृदय उसकी स्मृति से भर जाता है, जिसे आप नहीं जानते थे। आप कहेंगे कि जिसे हम जानते ही नहीं हैं, उसकी स्मृति ही कैसे हो सकती है? इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करना है।

एक तो होती है—अनुभूति और एक होती है—स्मृति। इन दोनों में थोड़ा भेद है। अनुभूतियाँ भोग-जनित ही होती हैं; किन्तु स्मृति उसी की होती है, जिससे आपकी जातीय एकता है, स्वरूप की एकता है। जो आपकी आवश्यकता के रूप में है, उसी की स्मृति होती है। उसकी अनुभूति नहीं होती, क्योंकि अनुभूति 'जन्य' (जन्म लेने वाली) होती है, स्मृति 'जन्य' नहीं होती है। जन्य का मतलब यह है कि जिसका जन्म होता है, स्मृति स्वतः होती है। और अनुभूति इन्द्रिय-जन्य, बुद्धि-जन्य, किसी के द्वारा होती है। जो चीज किसी के द्वारा होती है, उससे आपका नित्य सम्बन्ध या जातीय एकता नहीं होती। यही कारण है कि जाग्रत का दृश्य स्वप्न में और स्वप्न का दृश्य सुषुप्ति में नहीं रहता। सुषुप्ति की जड़ता समाधि में नहीं रहती। इसलिये भाई, देखना यह है कि आपके जीवन में स्मृति है या नहीं? आप लोग कहते हैं कि स्मरण करो। यह जो की हुई स्मृति है, वह वास्तव में स्मृति नहीं है। स्मृति का

अर्थ है कि जो स्वत: होता है। जैसे, जब किसी को प्यास लगती है, तब क्या वह पानी का स्मरण करता है? वह तो स्मरण करता नहीं है, होता है। तो हमारी सबकी जो वास्तविक माँग है, उसकी स्मृति होनी चाहिये। किन्तु आज उसकी विस्मृति क्यों हो गई? जब विस्मृति जीवन में आ जाती है, तब काम की उत्पत्ति होती है। काम, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है-विस्मृति के परिणाम में जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाम ही काम है, अर्थात् जब आप अपनी वास्तविक स्मृति से विमुख हो जाते हैं, तब जीवन में कामनाओं की उत्पत्ति होती है। और वे कामनायें, जो इन्द्रिय-जन्य हैं, जो बुद्धि-जन्य हैं, वस्तु आदि से आपका सम्बन्ध जोड़ देती है। परिणाम यह होता है कि वस्तु चली जाती है और सम्बन्ध रह जाता है। जिस समय वस्तु चली जाती है, ओर सम्बन्ध रह जाता है, उसी समय आप किसी-न-किसी प्रकार के अभाव की अनुभूति करते हैं। अभाव भी अनुभूति-जन्य है। और वस्तुएँ भी अनुभूति-जन्य हैं। और उन वस्तुओं की कामना और ममता कब उत्पन्न होती है? जब हम वास्तविक स्मृति से विमुख होते हैं, वास्तविक स्मृति तीन रूप धारण करती है- कर्त्तव्य का, निज-स्वरूप का, प्रभु का। यह स्मृति तीन ही रूप में जीवन में रहती है। कर्त्तव्य की स्मृति हमें जगत् के लिये उपयोगी बना देती है, निज-स्वरूप की स्मृति हमें अपने लिये उपयोगी बना देती है, और प्रभु की स्मृति हमें प्रभु के लिये उपयोगी बना देती है। स्मृति की यह महिमा है। किन्तु हमारे जीवन में आज हमें जो अकर्त्तव्य दिखाई देता है, उसका कारण है, कर्त्तव्य की विस्मृति अर्थात् जो करना चाहिये, जब हम वह नहीं करते हैं, तब वह करने लगते हैं, जो नहीं करना चहिए। यदि हम वह करने लगें, जो हमें करना चाहिये, तो उसका नाश अपने आप हो जाता है, जो नहीं करना चाहिये। तात्पर्य निकला कि अकर्त्तव्य के नाश में कर्त्तव्य की स्मृति हेतु है। यदि आप कहें कि हम तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद ही नहीं जानते। तो ऐसी बात नहीं है। जब कभी आपके साथ कोई ऐसी बात करता है, जो नहीं करनी चाहिये, तब आप स्वयं कहने लगते हैं कि साहब! उनको ऐसा नहीं करना चाहिए। आप सोचिये तो सही। आप दूसरे के कर्त्तव्य को जानते हैं, फिर अपने कर्त्तव्य को क्यों भूल जाते हैं? आप अपने कर्त्तव्य को क्यों भूल गये, जबकि दूसरे के कर्त्तव्य को आप जानते हैं? मेरा निवेदन तो यह है कि जब आप अपने कर्त्तव्य को भूल जाते हैं, तभी दूसरे के कर्त्तव्य की स्मृति आपको होती है। यदि आप अपने कर्त्तव्य को न भूलें, तो दूसरे के कर्त्तव्य को स्मरण करने का आपको अवकाश ही नहीं मिलेगा, फुर्सत ही नहीं मिलेगी। आप कहें कि-दूसरों के कर्त्तव्य को भला हम कैसे भूल सकते हैं? तो फिर आप यह तो बताइये

कि आप अपने कर्त्तव्य का स्मरण ही कैसे कर सकते हैं? स्मृति की जो सामर्थ्य है, उसे आप चाहे अपने कर्त्तव्य में लगायें या दूसरे के कर्त्तव्य में लगा दें। आप कहेंगे, अच्छा, यदि हम दूसरे के कर्त्तव्य की ओर दृष्टि न डालें, तो क्या हमारा निर्वाह हो सकेगा? अवश्य, अवश्य। आप कहें-कैसे? तो अधिकार तो कर्त्तव्य का दास है। यदि आप कर्त्तव्य का पालन करेंगे, तो अधिकार आपके पीछे-पीछे दौड़ेगा। आप कहें-यदि हमारे अधिकार की दूसरों ने रक्षा नहीं की तो? उस दशा में भी आपकी कोई क्षति नहीं होगी। देखिये, यदि आप यह भी मान लें कि मान लो, हमने अपने कर्त्तव्य का तो पालन किया, किन्तु दूसरों ने यदि हमारे अधिकार की रक्षा न की, तब? तो उस दशा में भी आपकी कोई क्षति नहीं होगी। क्यों? इसलिये नहीं होगी कि जो आपके अधिकार की रक्षा नहीं करेगा, क्षति उसकी होगी। आप कहें कि उसकी क्षति कैसे होगी? वह करने के राग से रहित नहीं हो सकता। और जो करने के राग से रहित नहीं हो सकता, वह देह के अभिमान से रहित नहीं हो सकता। और जो देहाभिमान से रहित नहीं होता, वह अपने आप ही अपना विनाश कर बैठता है। फिर आप क्यों परेशान हैं कि लोग हमारे अधिकार की रक्षा नहीं करेंगे? अगर लोग हमारे अधिकार की रक्षा नहीं करेंगे, तो स्वयं उनका विकास नहीं होगा, नहीं होगा, नहीं होगा। सोचिये, हम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं, तो क्या दूसरों पर कोई एहसान करते हैं? नहीं-नहीं। हम कर्त्तव्यनिष्ठ होकर अपना विकास करते हैं। उसी प्रकार जो अपने कर्त्तव्य का पालन करेगा, उसका विकास होगा। किन्तु आज हम यह सोचने लगे हैं कि यदि हमारे साथी सुन्दर हो जायेंगे, तो हमारा विकास होगा। ऐसा सोचना अपने ही द्वारा अपने जीवन का घोर अपमान करना है। हमारा विकास और दूसरों के आश्रित हो? कोई भी सजग मानव इस अपमान को सहन नहीं कर सकता। इसलिये मेरे भाई, आपका विकास आपके कर्त्तव्य में निहित है। आपका कर्त्तव्य दूसरे के अधिकार की रक्षा करता है। उसी के परिणामस्वरूप सुन्दर समाज का निर्माण होता है, और आप करने के राग से रहित होकर योगवित् होते हैं, तत्त्ववित होते हैं, ब्रह्मवित् होते हैं। इसमें लेशमात्र भी सन्देह की बात नहीं।

जानने, मानने तथा करने का स्वरूप-विवेचन-2

आज मानव-मात्र के सामने यह मौलिक प्रश्न उपस्थित है कि हमारे जीवन में अकर्त्तव्य की उत्पत्ति क्यों हो गई? अर्थात् हम वह क्यों कर बैठते हैं, जो हमें नहीं करना चाहिए? अथवा हम वह क्यों नहीं करते, जो करना चाहिए? कहना पड़ेगा कि असमर्थता से, हम असमर्थ हो गये, इसलिए। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि हम असमर्थ क्यों हो गये? तो मानना पड़ता है कि हमने शान्ति का सम्पादन नहीं किया। असमर्थता का अन्य कोई कारण नहीं है। एक दिन मानव-समाज इस तर्क पर बहुत ही गम्भीरता से विचार करेगा। तात्पर्य यह कि असमर्थता भूल-जनित दोष है, प्राकृतिक नहीं। जो दोष भूल-जनित है, उसी की निवृत्ति होती है। आप कहेंगे, असमर्थता का अर्थ क्या है? असमर्थता का अर्थ केवल इतना ही है कि जो हमें करना चाहिए, वह नहीं किया और जो नहीं करना चाहिए, वह कर बैठे, यही असमर्थता है। जो हमें मिलना चाहिए वह नहीं मिला, यह असमर्थता है। जिसमें हमारा चित्त लगना चाहिए, उसमें नहीं लगा-यह असमर्थता है। जिससे हमारा चित्त हटना चाहिए, उससे नहीं हटा-यह असमर्थता है। कहना होगा कि हमने शान्ति का सम्पादन नहीं किया और इसी कारण हम असमर्थ हो गये।

सोचिये, शान्ति का सम्पादन कैसे होगा? 'स्व' के द्वारा होगा, 'पर' के द्वारा नहीं होगा। आप कहेंगे कि इसके लिए हमें क्या करना होगा? अपने द्वारा कब हम शान्त होंगे? बोले, आपको निर्मम होना होगा, आपको निष्काम होना होगा, आपको असंग होना होगा, आपको शरणागत होना होगा। निर्ममता, निष्कामता, असंगता और शरणागति, इन चारों बातों में शरीर-धर्म नहीं है। गम्भीरता से विचार करें। यह मानव का अपना स्वधर्म है, शरीर-धर्म नहीं है। शरीर के सहयोग से आप निर्मम नहीं हो सकते, शरीर के सहयोग से आप निष्काम नहीं हो सकते, असंग नहीं हो सकते, शरणागत नहीं हो सकते। किन्तु अपने द्वारा आप निर्मम हो सकते हैं। आप कहेंगे, फिर होते क्यों नहीं? हो सकते हैं, और क्यों नहीं होते? यह असमर्थता की दशा है, यह वास्तविकता नहीं है। आपने अपने को असमर्थ बना लिया है, इसलिए आप कहते हैं कि हम वैसे क्यों नही होते, जैसे हो सकते हैं।

अब सोचिये कि यह असमर्थता कैसे दूर हो? इसका बड़ा सहज उपाय है। पहले यह सोचो कि तुम्हारे जानते, तुम्हें क्या नहीं करना चाहिए? यह मत विचार करो कि क्या करना चाहिए। तुमको अपने द्वारा इस बात का ठीक निर्णय कर लेना चाहिए कि हमें मिले हुए बल का दुरुपयोग नहीं करना है,

पहली बात। दसूरी बात, यह कि जो नहीं कर सकते, उसको भी नहीं करना है। कहीं इसका यह अर्थ मत लगा लेना कि हम कुछ भी नहीं कर सकते। जो कुछ नहीं कर सकता, उसका जीवन तो बहुत ऊँचा हो जाता है। किन्तु आप कुछ तो कर ही सकते हैं। जैसे-बल का दुरुपयोग आप न करें, ऐसा आप कर सकते हैं, और जो नहीं कर सकते, यानी सामर्थ्य-विरोधी है, उसका भी त्याग करें। इतना तो, ऐसा कोई नहीं, जो न कर सके। देखिये, कोई भी ईमानदार भाई और बहिन अपने हृदय पर हाथ रखकर यह नहीं कह सकते कि मैं कोई ऐसी बात कहता हूँ जो असम्भव है। भाई, जो नहीं कर सकते, उसे मत करो। और मिले हुए बल का दुरुपयोग मत करो, चाहे तन का बल हो, चाहे धन का बल हो, चाहे योग्यता का बल हो, चाहे पद का बल हो और, आजकल के युग में, चाहे बहु-संख्या का बल हो। किसी भी प्रकार के बल का दुरुपयोग मत करो। अच्छा, मैं आपसे पूछता हूँ कि मानव-समाज यदि बल का दुरुपयोग न करने का निर्णय कर ले, तो क्या पुलिस अपेक्षित होगी भाई? बोलो! पुलिस की जरूरत होगी? फौज की जरूरत होगी? न्यायालय की जरूरत होगी? अच्छा, जिस समाज को फौज की जरूरत नहीं रही, पुलिस की जरूरत नहीं रही, न्यायपालिका की जरूरत नहीं रही, उस समाज में परस्पर स्नेह होगा कि नहीं, विश्वास होगा कि नहीं, एकता होगी कि नहीं? क्या पुलिस के बल पर, फौज के बल पर, न्यायालय के बल पर आज तक दो वर्गों में, दो देशों में, दो मज़हबो में, दो इज़्मों में क्या वह विश्वास, वह प्रेम हुआ कि जो होना चाहिए? नहीं हुआ। फिर राष्ट्रीयता का अभिमान क्या अपने आपको धोखा देना नहीं है? मानव-सेवा-संघ ने कहा कि हे मानव! तू किसकी ओर देखता है? तू भूल गया कि बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। और जो नहीं कर सकते हैं, उसको नहीं करना चाहिए, यह भूल गया और उस भूल का यह परिणाम हुआ कि कर्त्तव्य की विस्मृति हो गई, अकर्त्तव्य की उत्पत्ति हो गई। अकर्त्तव्य की उत्पत्ति का परिणाम हुआ कि दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, दो देशों में, दो दलों में, दो मज़हबों में, दो इज़्मों में संघर्ष हो गया, और यह कहते-कहते संघर्ष हो गया- "हम मानव-समाज के हित-चिन्तक हैं।" और परस्पर में संघर्ष भी है। जरा विचार तो कीजिए। आप हित-चिन्तक भी हैं, और संघर्ष भी करते हैं। आप हित-चिन्तक हैं और अरबों-खरबों की सम्पत्ति अनिष्टकारी आविष्कारों में व्यय करते हैं। यह अपने को धोखा देना है।

यह धोखा कब नाश होता है, आप जानते हैं? यह धोखा तब नाश होता है, जब मानव अपना नेता, अपना शासक, अपना गुरु स्वयं आप बनता है।

जब तक मानव अपना गुरु नहीं बनेगा, अपना नेता नहीं बनेगा, अपना शासक नहीं बनेगा, तब तक उसके जीवन में विस्मृति रहेगी। और जब तक विस्मृति रहेगी, तक तब अकर्त्तव्य रहेगा। और जब तक अकर्त्तव्य रहेगा, तब तक असमर्थता रहेगी। और जब तक असमर्थता रहेगी—विनाश होगा, विनाश। इसलिए भाई, आप मानव हैं, आप बड़े सुन्दर हैं। आप यह न सोचिये कि आपकी सुन्दरता आपके बँगले पर निर्भर है, आप यह न सोचिए कि आपकी सुन्दरता आपके पद पर निर्भर है, आप यह न सोचिए कि आपकी सुन्दरता आपकी योग्यता पर निर्भर है। आपकी सुन्दरता इस बात पर निर्भर है कि आप 'मानव' हैं। आप विचार करें कि मानव होने के नाते आप कितने सुन्दर हैं, और किसी पद पर आसीन होने के बाद कितने सुन्दर हैं! विचार करें। अगर आप केवल मानव होने से सुन्दर नहीं हैं, तो आप जहाँ होंगे, वहाँ अनुपयोगी सिद्ध हो जायेंगे। यह मेरी बात नहीं है। यह प्रत्येक विचारशील की अपनी बात है, प्रत्येक भाई और बहिन की अपनी बात है। मानव होने से जिसका महत्त्व नहीं है, उसका महत्त्व क्या किसी पद विशेष से होगा? कभी नहीं होगा। क्यों? मानव कहते ही उसे हैं, जिसने मिले हुए का दुरुपयोग न किया हो। मानव कहते ही उसको हैं, जिसने जाने हुए का अनादर न किया हो। मानव कहते ही उसको हैं, जिसने सुने हुए में अश्रद्धा न की हो। मानव उसे नहीं कहते कि जो बहुत कुछ जानता है, पर उसका आदर नहीं करता है। अगर आप अपने जाने हुए का आदर नहीं करते, तो क्या आपसे यह आशा की जा सकती है कि आप अपने नेता की बात मानेंगे? हमारे नेता ने कहा था कि हम विभाजन नहीं पसन्द करेंगे, क्या हमने मानी? हमारे गुरु ने कहा-जानते हो क्या कहा? कहा कि बेटा! जब तुम आजाद हो जाओगे, खूँखार शेर तुमको गोद में ले लेंगे, वृक्ष तुमको फल-फूल देंगे। क्या मानी हमने? आज हम ढोंग करते हैं अपने नेता का कहना मानने का। आज हम दम्भ करते हैं अपने गुरु का अनुयायी होने का। आज हम धोखा देते हैं अपने को राष्ट्रवादी कहने का। क्या हम राष्ट्र की बात मानते हैं? अगर मानते होते, तो क्या विभाजन होता? लाखों घर बरबाद होते? अमानवता का नृत्य होता?

इसलिए मेरे भाई! मानव-सेवा-संघ ने कहा—यह भूल हमसे क्यों हुई? यह भूल हमसे इसलिए हुई कि हमने स्वयं अपने पर अपना नेतृत्त्व नहीं किया। हम स्वयं अपने गुरु नहीं बने, हम स्वयं अपने शासक नहीं बने। इसी भूल को मिटाने के लिए मानव सेवा संघ ने हमें प्रकाश दिया कि "हे मानव!

तू 'मानव' है और मानव होने के नाते तू बड़ा सुन्दर है। इतना सुन्दर है कि तू अपने लिए, जगत् के लिए, जगत्पति के लिए उपयोगी हो सकता है।''

जानने, मानने तथा करने का स्वरूप-विवेचन—3

आज दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि हम अपना गुरु बनना नहीं चाहते, अपना नेता बनना नहीं चाहते, अपना शासक बनना नहीं चाहते। हम सोचते रहते हैं कि अमुक को यह नहीं कहना चाहिये, अमुक को यह नहीं करना चाहिये। ठीक बात है बाबू। पर यह भी तो सोचिये कि तुमको क्या करना चाहिये? तुमको क्या नहीं करना चाहिये? तुम्हें यह बात सोचने का अवकाश ही कैसे मिला कि तुमने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया और दूसरे के कर्त्तव्य का स्मरण भी कर लिया? इससे बढ़कर अपने को धोखा देने वाली दूसरी कोई बात नहीं है। सोचिये कि जीवन में विस्मृति क्यों है? असमर्थता क्यों है? अकर्त्तव्य क्यों है? यह आपके भाग्य में नहीं लिखा है, यह प्राकृतिक दोष नहीं है। यह इसलिए है कि हमने आज अपने सम्बन्ध में विचार करना छोड़ दिया। इसलिए भाई! मेरी नम्र प्रार्थना है कि मेरी व्यथा दूर करने में आप हमें अपना सहयोग दें। आप जानते हैं, मेरी व्यथा क्या है? वह यह है कि हम अपने-अपने सम्बन्ध में विचार करने का, आत्म-निरीक्षण करने का स्वभाव नहीं बनाते। मैं आपसे यह कहने नहीं आया हूँ कि जो मैं कहता हूँ उस बात को आप मान लीजिये। परन्तु क्या मुझे यह भी कहने का अधिकार नहीं है कि आप जो स्वयं जानते हैं, उसे तो मान लें। यदि आपने ऐसा किया, तो इसमें मेरी बात भी हो गई।

मेरा निवेदन है कि आप मानव हैं, आपकी बड़ी महिमा है। आप जो कर सकते हैं, उसे दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। यह आपकी महिमा है। यदि आप पूछें कि हम क्या-क्या कर सकते हैं? तो सुनिये, ईश्वर में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह सृष्टि को अपनी न कहे; लेकिन आप में यह सामर्थ्य है कि आप मिले हुये शरीर को अपना न कहें। जरा विचार तो कीजिये। ईश्वर में यह सामर्थ्य नहीं है कि जिसका वह ज्ञाता न हो, उसे वह मान ले। आप में यह सामर्थ्य है कि जिसको आप नहीं जानते, उसको मान लें। यह विनोद नहीं कर रहा हूँ। आप इस पर गम्भीरता से सोचिये। हाँ, यह बात जरूर है कि आपकी यह महत्ता आपको अपने रचयिता से ही मिली हुई है। यह उसकी महिमा है कि उसने आपको इतना सुन्दर बनाया है। आप सुने हुये पर अपने को निछावर कर सकते हैं, मिले हुये की ममता छोड़ सकते हैं। आप बिना मिले हुये की कामना तोड़ सकते हैं। यह आप में सामर्थ्य है। किन्तु हमने

आज अपने महत्त्व को भुला दिया और अपना मूल्यांकन करने लगे परिस्थिति के आश्रित, वस्तु के आश्रित, पद के आश्रित, सीमित योग्यता के आश्रित, क्षण-भंगुर शरीर के आश्रित। यह भूल है। और यह इसलिये हुई कि हमने कभी यह सोचा ही नहीं कि श्रमरहित होकर, सामान-रहित होकर, साथियों से रहित होकर भी हमारा अपना कोई महत्त्व है। अगर आप यह सोच लेते, एक क्षण के लिये यह अनुभव कर लेते, और आप इसे भली-भाँति जानते भी हैं कि हमारा शरीर हमारे साथ नहीं रहेगा। आप जानते हैं कि हमारे साथी सुषुप्ति में नहीं होंगे। हम जानते हैं कि हमारा सामान सुषुप्ति में हमारे साथ नहीं होगा, और हम फिर भी होंगे। बे-सामान के भी हम होंगे, बिना साथियों के भी हम होंगे। और यह भी सोचिये कि जब हम बिना सामान और बिना साथियों के होते हैं, तब क्या दु:खी होते हैं? क्या अभाव से पीड़ित होते हैं? क्या पराधीन होते हैं? मानना पड़ेगा कि नहीं। दुखी तो नहीं होते। लेकिन यह नहीं जानते कि कैसे होते हैं? बिलकुल ठीक कहते हैं; किन्तु आप जान सकते हैं। आप पूछें, कैसे जान सकते हैं? तो उत्तर होगा कि जाग्रत में, किसी भी कार्य के प्रारम्भ से पूर्व आप शान्त होने का स्वभाव बनायें, कार्य के आरम्भ से पूर्व और कार्य करते समय इस बात पर विचार करें कि हम वह नहीं करेंगे, जो नहीं करना चाहिये। और उस कार्य को संकल्प के रूप में, कामना के रूप में जमा नहीं रखेंगे, जिसे नहीं कर सकते। इन तीनों बातों पर ध्यान रखें। कार्य से पूर्व शान्त हो जायँ। कार्य वह करें, जो करना चाहिये और जिसे कर सकते हैं। वह न करें, जो नहीं करना चाहिये, और जिसे कर नहीं सकते। परिणाम में आपको शान्ति प्राप्त होगी। शान्ति का सम्पादन होते ही आपका प्रवेश, आपके न चाहने पर भी, बिना किसी श्रम के, उस जीवन में होगा, जिसमें कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है। जहाँ कोई और नहीं है, वहाँ निर्भयता है। जहाँ कोई गैर नहीं है, वहाँ परम प्रेम की अभिव्यक्ति है। वह जीवन आपका जीवन है। और वह आपको प्राप्त है, अप्राप्त नहीं है, मिला है। केवल आप उसको भूल गये हैं। आप उससे दूर नहीं हुए, आप उससे अलग नहीं हुए, आप उससे विभाजित नहीं हुए। वह जीवन आपका है, सदैव आपका है, सदैव आपका रहेगा। परन्तु मेरे भाई! सामान की दासता ने, साथियों की ममता ने, परस्पर के संघर्ष ने ही हमें आज अपने वास्तविक जीवन से विमुख कर दिया है। हम इस वास्तविक जीवन को भूल गये हैं। इसलिए मेरा नम्र निवेदन है कि आप मानव हैं, आपके जीवन का बड़ा महत्त्व है; आपसे सभी का महत्त्व है, आपका किसी और से महत्त्व नहीं है। जरा सोचिये तो सही, भक्तों ने भगवान् के महत्त्व को प्रकाशित किया, कि भगवान् ने स्वयं अपने महत्त्व को प्रकाशित

किया? क्या राय है आपकी? - भक्तों ने। भक्त मानव है या भगवान्? जरा विचार करो, कितना महत्त्व है आपका? अच्छा भैया, बताओ तो सही, जिज्ञासा-पूर्ति मानव की हुई या देवताओं की? -मानव की। सन्देह-निवृत्ति किसकी हुई? कर्त्तव्य-परायणता किसमें आई? -मानव में। कर्त्तव्य-परायणता से जीवन जगत् के लिये उपयोगी हुआ कि नहीं? हुआ। सन्देह-निवृत्ति से जीवन अपने लिये उपयोगी हुआ कि नहीं? हुआ। अच्छा, भक्त होने से जीवन भगवान् के लिये उपयोगी हुआ कि नहीं? हुआ। यह आपका अपना महत्त्व है, कि नहीं है? किन्तु हमने यह सोचा ही नहीं कि जो हमारे बिना रह सकता है, हम उसके बिना क्यों नहीं रह सकते। जरा विचार तो कीजिये, सोचिये तो सही, कि जो हमारे बिना रह सकता है, हम उसके बिना क्यों नहीं रह सकते? रह सकते हैं। जब रह सकते हैं, तब क्या कामना का स्थान रह गया? ममता का स्थान रह गया? फिर ममता और कामना से रहित होने में क्या आप पराधीन हैं? क्या असमर्थ हैं? कदापि नहीं। किन्तु आप विचार ही नहीं करते कि हमारे जीवन का क्या महत्त्व है। इसलिये आप सोने से पहले और जागने के बाद, कार्य के आरम्भ और अन्त में अपने सम्बन्ध में विचार करना आरम्भ कर दें और अपने अनुभव के आधार पर विचार करें। आप जानते ही हैं कि 24 घंटों में कुछ समय ऐसा भी होता है, जब हम बे-साथी और बे-सामान के होते हैं। तो भाई, उस समय क्या आप दु:ख का अनुभव करते हैं? बोले, नहीं। किन्तु क्या बतायें, यह जड़ता के आधार पर होता है। मानव-सेवा-संघ ने कहा-नहीं भाई, जाग्रत अवस्था में कार्य के आरम्भ से पूर्व, कार्य के अन्त में यदि आप शान्त हो जायँ, तो वही जीवन, जो सुषुप्ति में आपने अनुभव किया था, जाग्रत में प्राप्त होगा और उसी जीवन से आप अपने लिये, जगत् के लिये, जगत्पति के लिये उपयोगी होंगे-यह निर्विवाद सिद्ध है।

वर्तमान निर्दोषता में आस्था-1

मानव होने के नाते हम सब साधक हैं। साधक उसे नहीं कहते, जो अपनी ओर नहीं देखता। साधक का सर्वप्रथम पुरुषार्थ है कि वह स्वयं अपने सम्बन्ध में विचार करे। मुझे जब-जब दूसरों का चिन्तन हुआ है, तब-तब मैं अपनी बात भूलता रहा हूँ और उसका बहुत भयंकर परिणाम मुझे भोगना पड़ा है।

इसलिए भाई, दूसरे लोग हमारे साथ क्या करते हैं? ऐसा सोचना सजग मानव के जीवन का प्रश्न नहीं है, यह सावधान भाई-बहिनों का प्रश्न नहीं है।

जैसे वे हैं, वैसा ही वे करते हैं। यदि कोई भाई-बहिन हमारे साथ भलाई करते हैं, तो उसका अर्थ यह है कि वे भले हैं। यदि वे हमारे साथ भलाई नहीं करते, तो भाई, इसमें बुरा मानने की बात नहीं है; क्योंकि यदि कोई हमारे साथ भलाई न करे, तो उसमें उसकी कोई बुराई तो है नहीं; किन्तु यदि कोई हमारे साथ बुराई करता है, तब भी क्षोभित होने की बात नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि जिसने अपने साथ बुराई नहीं की है, वह हमारे साथ बुराई कर ही नहीं सकता। यह कर्म-विज्ञान का दार्शनिक सत्य है। यदि हमारे साथ कोई बुराई करता है, तो उसका अर्थ यही है कि उसने अपने साथ बुराई की है।

अब हमें अपने को बुरा नहीं बनाना है, इस कारण हम बुराई के बदले बुराई नहीं करेंगे। अपतु भलाई करने का प्रयास करेंगे भले होकर। भले होने का सहज, सुगम, सुलभ, उपाय क्या है? वह यह है कि हम अपनी वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था करें। यह ऐसा दार्शनिक उपाय है, वैज्ञानिक उपाय है, अनुभव-सिद्ध उपाय है कि हम वैसे ही भले हो जाते हैं, जैसे कि बुराई की उत्पत्ति से पूर्व थे। क्योंकि हमने भूतकाल की बुराई का परित्याग कर दिया। इससे वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित रहेगी । जब हमारी वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित होगी, तब हमारे द्वारा बुराई होगी ही नहीं। इस बात पर विचारशील साधक गम्भीरतापूर्वक विचार करें, अर्थात् जिसे हम बुरा समझते हैं कि उसने हमारे साथ बुराई की है, तो भाई, उसने बुराई हमारे साथ नहीं की, उसने अपने ही को बुरा बना लिया है। यद्यपि बुराई करने से पूर्व वह भला है, और बुराई करने के अन्त में भी वह भला है। बुराई तो बीच में हमारी भूल से उत्पन्न हुई और उसका नाश होगा। किन्तु हम अपने प्रति होने वाली बुराई के आधार पर जब दूसरे को बुरा समझने लगते हैं, तब दूसरा कैसा है, इसे तो वह जाने, पर हम स्वयं तो बुरे हो ही जाते हैं। उसी का परिणाम यह होता है कि जिस हृदय में प्रेम की गंगा लहरानी चाहिये, उसमें द्वेष की अग्नि जलने लगती है, भेद और भिन्नता उत्पन्न हो जाती है, जो किसी के लिए कभी भी अभीष्ट और हितकर नहीं है। अब आप विचार करें कि इस तरह हमने कितनी अपनी क्षति की, कितना अपने को बुरा बनाया!

मुझे बड़ी व्यथा होती है, जब मैं किसी साधक को इस रूप में, किसी दूसरे की बुराई करते देखता हूँ। वास्तव में बुराई करने वाले को बुरा कहना अथवा उसे बुरा समझना उसके साथ बुराई करने से भी अधिक बुरा है। यह बात मैंने गुरुदेव से सुनी थी, बहुत ही पहले बचपन में। महाराज कहने लगे कि जो किसी को बुरा समझता है, वह उससे ज्यादा बुरा है, जो बुराई करता है। उन्होंने कहा कि बुराई करने वाले के जीवन में कभी भी सजगता आ

सकती है और वह पश्चात्ताप करके बुराई को छोड़ सकता है; किन्तु जो दूसरे को बुरा समझता है, उसके जीवन में तो मिथ्या अभिमान की ही उत्पत्ति और पुष्टि होती रहती है। इसलिए उसकी विशेष क्षति होती है, जो किसी की बुराई करता है, चाहे वह सच्ची हो। वास्तव में तो दूसरे की क्रियाओं को आप भली-भाँति जान ही नहीं सकते। कर्म के पीछे भाव भी होता है। भाव के पीछे विवेक भी होता है। विवेक के पीछे लक्ष्य भी होता है। अत: कौन भाई-बहिन किस समय में, किस भाव से कह रहे हैं, आप नहीं जानते। मेरा यह विश्वास है और अनुभव है कि आँखों देखी बुराई के विषय में भी कोई व्यक्ति सही अर्थ में निर्णय नहीं कर सकता कि उसमें बुराई का अंश कितना है। इसलिए मेरा नम्र निवेदन है कि जो भाई, जो बहिन अपने को साधक मानते हैं, वे बात पर विचार करें। देखिये, मानव-सेवा-संघ सिद्धों का संघ नहीं, साधकों का संघ है। साधक उसे नहीं कहते, जिससे कभी भूल न होती हो। भूल तो सबसे होती है; किन्तु जो उसे जानने का प्रयास करता है, उसे मिटाने का प्रयास करता है, उसी को साधक कहते हैं।

अत: यदि किसी साधक से कभी कोई भूल होती है, तो यह उसका काम है कि वह उसे देखकर, उस पर दु:खी होकर उसे मिटाने का प्रयास करे। यह आपका काम नहीं है कि आप उसकी भूल की पूरी जानकारी से पूर्व किसी दूसरे से उसकी बुराई करने लगें। अगर आप किसी के हित-चिन्तक हैं और उसकी बुराई आपको नापसन्द आती है, तो बुराई करने वाले से ही कहें कि भाई, तुम ऐसा क्यों करते हो? ऐसा तुम्हें नहीं करना चाहिए, ऐसा तुमको नहीं सोचना चाहिये। तो मैं मान लेता कि तुम किसी के मित्र भी हो और पराई बुराई से तुम्हारा हृदय करुणित होता है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जो व्यक्ति किसी की बात किसी दूसरे से जाकर कहता है, वह दोनों की ओर से अविश्वासी होकर रहेगा। इसलिये मेरा ऐसा नम्र निवेदन है कि मुझे दु:ख है, मैं नहीं चाहता हूँ कि तुम अपनी दृष्टि में भी आदर के योग्य न रहो और जिसके हित-चिन्तक बनकर तुम इस तरह की बात करते हो, उसकी दृष्टि में भी आदर के योग्य न रह जाओ। जिसकी तुम बुराई करते हो, उसके आदर के योग्य रह ही नहीं सकते। इसलिये यदि तुम अपना भला चाहते हो, दूसरों का भला चाहते हो, तो किसी की बुराई किसी के साथ मत करो, कहो मत। तुम्हारे देखते हुये, तुम्हारे सामने किसी ने बुराई की कैसे? तुममें हिम्मत होनी चाहिये, तुममें ईमानदारी होनी चाहिये, तुममें साहस होना चाहिये, बुराई करने वाले से तुम्हें प्रीतिपूर्वक कहना चहिये-आप ऐसा क्यों सोचते हैं? आप भी हमारे हैं, वे भी हमारे हैं। आप ऐसा कभी न सोचें। आप यदि ऐसा करते हैं,

तो आप देखेंगे कि आपको दोनों पक्षों से आदर मिलेगा, और आपका स्वयं का भला होगा भाई मेरे! एक भले आदमी मुझसे कहते थे कि जब तक हम किसी की बुराई नहीं कर लेते, हमारा खाना ही नहीं पचता। दशा है यह! यह रोग है, और मानसिक रोग है। यह क्षोभ की आवाज है, यह क्रोध की आवाज है, यह प्रमाद की पुकार है। इसलिये मेरा निवेदन है कि हम सिद्ध बनकर आपसे बात नहीं कर रहे हैं। हमने सिद्ध बनकर संस्था का निर्माण नहीं किया है। हमने तो अपने को, अपने साथियों को साधक माना है। हम साधक हैं, और साधक होने के नाते यदि आप हमारा उपकार करना चाहते हैं, हमारा कल्याण चाहते हैं, तो कम से कम हमारी बात हम से ही कहें। हमारी बात दूसरों से क्यों कहते हैं और दूसरों की बात आकर हमसे क्यों कहते हैं? उनका काम है, वे कहें। परन्तु लोगों की ऐसी आदत बन गई है। क्या? स्वयं आयेंगे-साहब मैं आया हूँ और अमुक भी आया है। अरे, क्या उसके मुँह नहीं है? क्या वह मेरा परिचित नहीं है? आप जानते हैं, इसमें क्या छिपा हुआ है? इसमें छिपा हुआ है-बताने वाले का अपना एक प्रभुत्त्व। मैं ऐसी बातों की बिलकुल परवाह नहीं करता। इसलिए मेरा नम्र निवेदन है कि मानव-सेवा-संघ के ये सम्मेलन केवल साधकों के सम्मेलन हैं, परस्पर प्रीति की एकता के लिये सम्मेलन हैं, एक-दूसरे के साथ अच्छे ताल्लुक पैदा हो जायें, इस बात के सम्मेलन हैं। आप यहाँ आकर न्यायाधीश न बनें, नेता न बनें, गुरु न बनें। और आपको हमारी बुराई दीखती है, तो हमसे एकान्त में मिलकर कहें कि आपकी बुराई से हमें दु:ख होता है। आप ईश्वर का काम नहीं कर सकते, आप समाज का काम नहीं कर सकते, आप राष्ट्र का काम नहीं कर सकते। आप अपना काम कर सकते हैं। मानव होने के नाते मानव-मात्र को अपने सम्बध में विचार करने का स्वतन्त्र अधिकार है। दूसरों की सेवा करने में अधिकार है, प्यार करने में अधिकार है, आदर देने में अधिकार है। मेरा तो यह विश्वास है कि जब से दूसरों को समझाने का प्रयास किया गया, बेसमझी फैल गई। आप जानते हैं, बेसमझी कैसे बढ़ती है? समझाने के प्रयास से। जिन माता-पिताओं ने अपने बच्चों को प्यार दिया है, आदर दिया है और समझाने का ज्यादा प्रयास किया है, उनके बच्चे माता-पिता के विरुद्ध हो गये। आप समझते होंगे कि हमारे समझाने से दूसरे की बेसमझी मिटती है। परन्तु नहीं, ऐसा नहीं होता। बेसमझी मिटती है तब, जब बेसमझ को प्यार कर सको। तब उसमें चेतना आती है। बेसमझ को यदि आदर दे सको तो उसमें चेतना आती है। बेसमझ को सहयोग दे सको तो उसमें चेतना आती है। एक तो वह बेचारा अपनी बेसमझी से ही दुखी है, फिर

तुम ऊपर से अपमान करके उसको और दु:खी बनाते हो। इसका अर्थ यह है कि आप सेवा की बात को जानते ही नहीं, मानने की तो कौन कहे। सच्चा सेवक वही होता है, जो बुरे-से-बुरे व्यक्ति को भी प्यार देने को राजी हो, जो सभी की पीड़ा से पीड़ित होने के लिये राजी हो। उसी को मानव-सेवा-संघ ने सेवक माना है।

वर्तमान निर्दोषता में आस्था-2

हम सब साधक हैं। साधक होने के नाते हम सबको अपने-अपने सम्बन्ध में विचार करना है। आप कहेंगे, कैसे विचार करें? इस सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि भाई, अगर आप ईश्वरवादी हैं, ईश्वर-विश्वास आपके जीवन में है, तो अपने से पूछें कि ईश्वर से अच्छी भी क्या कोई चीज है? अगर ईश्वरवादी की दृष्टि में ईश्वर से अच्छी भी कोई चीज है, तब तो वह यह कह सकता है कि मुझे ईश्वर प्यारा नहीं लगता, उसमें मेरा मन नहीं लगता। किन्तु यदि वह मानता है कि ईश्वरवादी के लिये ईश्वर सबसे अच्छा है और एक ही है, और फिर भी वह यह कहता है कि मेरा प्रभु में मन नहीं लगता, तब यह बात कहाँ तक तर्कयुक्त है? भाई, क्या सबसे अच्छी चीज में आपका मन नहीं लगेगा? मानव-सेवा-संघ इस प्रकार का सुझाव ईश्वरवादी को देगा कि भाई, देखो, यदि तुम ईश्वर को मानते हो, तो क्या यह मानते हो कि उससे अच्छी और भी कोई चीज है? उससे अच्छी यदि और कोई चीज है, तो फिर ईश्वर कैसा? और यदि तुम ईश्वर को मानते हो, तो क्या वह तुम्हारा अपना नहीं है? अब आप स्वयं विचार करें! सबसे अच्छा हो, अपना हो, फिर भी प्यारा न लगे और प्यारा लगे, तब भी उसमें मन न लगे, क्या यह सम्भव है? यह कभी सम्भव नहीं है। अब आप विचार करें, आपका ईश्वरवाद आपके लिये उपयोगी है। यदि आप कहें कि नहीं-नहीं, हम तो अध्यात्मवादी हैं। अच्छा भाई, अध्यात्मवाद की दृष्टि से 'अपने' से सुन्दर कोई चीज है क्या? किसी भी अध्यात्मवादी से पूछिये। किसी अध्यात्मवादी ने 'यह' के सम्बन्ध में ऐसा विचार नहीं किया है। 'यह' के सम्बन्ध में यह राय कायम नहीं की। सभी अध्यात्मवादियों ने 'यह' को 'अपने' से निम्न कोटि का ही स्वीकार किया है। मेरे जानते, तो किसी अध्यात्मवादी ने यह स्वीकार नहीं किया कि आत्मा से शरीर अधिक महत्त्व की वस्तु है, आत्मा से जगत् अधिक महत्त्व की वस्तु है। ऐसा मेरे जानते, किसी अध्यात्मवादी ने नहीं कहा। जब नहीं कहा, तब आप अपने में संतुष्ट क्यों नहीं होते? यदि आप अपने में संतुष्ट नहीं हैं, तो आपका जीवन तो यही सिद्ध करता है कि आप

अध्यात्मवादी नहीं हैं। यदि मैं अपने में संतुष्ट नहीं हूँ, तो मेरा जीवन तो यही सिद्ध करेगा कि मैं अध्यात्मवादी नहीं हूँ। फिर भी कथन करें आप अध्यात्मवाद का, तो इससे कोई लाभ होने वाली नहीं है। इसलिये मेरे भाई, अगर आप अध्यात्मवादी हैं, आपने अपनी सत्ता को स्वीकार किया है, तो अपने में आपकी अपनी रति होनी चाहिये। आप अपने में अपने को सन्तुष्ट रख सकें, तब न आपका अध्यात्मवाद सिद्ध होगा, तब न हमारा अध्यात्मवाद सिद्ध होगा। इसलिये मेरा निवेदन है कि अपने सम्बन्ध में विचार करना तभी सार्थक होगा कि जैसा आप मानते हैं, वैसे आप अभी, अभी, अभी हो जायँ। यदि कोई कहे, नहीं-नहीं, हम तो भौतिकवादी हैं। तो भैया, सोचो, अगर तुम भौतिकवादी हो, तो विचार करो कि भौतिकवादी का अर्थ क्या है? अगर तुम्हारी मान्यता में जगत् है, तो फिर कोई भी वस्तु तुम्हारी है या जगत् की? आप विचार करें। अगर जगत् की स्वीकृति है, तो उसके पास जो कुछ है, वह जगत् का है। निर्मम होकर यदि विश्व-प्रेम से आपका जीवन परिपूर्ण नहीं है, तो फिर कैसा भौतिकवाद? आत्मरति से भी जब आपका अपना जीवन परिपूर्ण नहीं है, तो कैसा अध्यात्मवाद? प्रभु-प्रेम से यदि आपका जीवन परिपूर्ण नहीं है, तो कैसा ईश्वरवाद? विचार करें, और गम्भीरता से विचार करें। इस प्रकार विचार करना ही मानव-सेवा-संघ की सत्संग-योजना है। परन्तु कितने दुःख की बात है कि हम अपनी ओर देखते ही नहीं और देखते भी हैं, तो इस विचार के साथ कि किस अंश में उन्होंने मेरे साथ वह किया, जो उन्हें मेरे साथ नहीं करना चाहिये था। मान लो, किसी ने वैसा नहीं किया; किन्तु यह भी तो सोचो कि तुम्हें उसके साथ क्या करना चाहिए। हमें तो उसके साथ वही करना है कि जो करना चाहिये। यदि आप ऐसा करते हैं, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि फिर दुबारा क्या कोई आपके साथ बुराई करने का साहस कर सकता है? मेरे जानते तो नहीं कर सकता। किन्तु अनेक बार हमारें ऊपर जो दूसरों के द्वारा आक्रमण होते हैं, दूसरों के आक्षेप होते हैं, दूसरों की आलोचनायें होती हैं, वे क्यों? स्पष्ट है कि हम वह नहीं करते, जो हमें उनके साथ करना चाहिये। परिणाम यह होता है कि हमारे साथ वह होता रहता है, जो दूसरों को नहीं करना चाहिये।

मैं जानना चाहूँगा कि यह रोग कब तक रखना है? कब तक हम यह सोचते रहेंगे कि हमको दूसरों ने आदर नहीं दिया, प्यार नहीं दिया, हमारी ईमानदारी में विश्वास नहीं किया, हमको अच्छा आदमी नहीं समझा। इस बेबसी के जीवन से क्या शान्ति मिलेगी? भाई, मेरा तो विश्वास है कि सारी दुनिया मुझे चाहे जैसा समझे, पर मैं वैसा रहूँ, जैसा रहना चाहिये। यही उपाय

है अनादार की पीड़ा से, अपमान की पीड़ा से बचने का। किन्तु हम आज दूसरों के सर्टीफिकेट पर अपने को शान्त रखना चाहते हैं, दूसरों की उदारता पर आज हम जीना चाहते हैं। मेरा विचार है कि यह मानव-जीवन का घोर अपमान है।

आप मानव हैं, आपकी बड़ी महिमा है, आपका बड़ा महत्त्व है, आप बड़े सुन्दर हैं। परन्तु मेरे भाई, वह कौन-सी घड़ी होगी, जब आपके लिये पराधीनता की वेदना असह्य होगी, जब आप पराधीनतापूर्वक रहना सहन न कर सकें? पराधीनता इस बात में नहीं है कि मैं भूखा हूँ, मुझे भोजना नहीं मिलता। ऐसी पराधीनता पराधीनता नहीं है। निर्णय कर लो, प्यारे भोजन! यदि तुम्हारे बिना शरीर नाश हो सकता है, तो तुम भी मेरे बिना सड़ सकते हो! तब फिर पराधीनता क्या है? यदि हमारा जीवन किसी की उदारता पर जीवित रहा, तो वह जीवन नहीं है। दुखी से दुखी मानव भी उतना ही बड़ा मानव है, जितना अपने को सुखी से सुखी मानव मानता है। क्यों? इसलिये नहीं कि वह अमुक परिस्थिति में है, वरन् इसलिये कि वह मानव है। इसलिये मेरे भाई, अगर कोई सुख में उदार नहीं है, तो हम दुखियों को तो दु:ख में विरक्त होना चाहिए। विरक्ति का अर्थ क्रोध नहीं है, विरक्ति अर्थ क्षोभ नहीं है, विरक्ति का अर्थ विद्रोह नहीं है। विरक्ति का अर्थ है--असंग हो जाना, निरपेक्ष हो जाना, अनपेक्ष हो जाना। तो, मेरा निवेदन है-अगर सुखी उदारता के बिना भी रह सकता है, तो दु:खियों को तो विरक्ति के बिना नहीं रहना चाहिये। जब दुखी विरक्ति को अपनायेंगे, तब सुखी की उदारता आपके पीछे-पीछे दौड़ेगी; किन्तु इसे अपना महत्त्व मत मान लेना। यह मत मान लेना कि यह मेरा महत्त्व है कि मेरे पीछे बहुजन चलता है, मेरे पीछे आदर चलता है, मुझे मान-पत्र मिलते हैं, मुझे ऊँचा स्थान मिलता है। यही महत्ता, यही प्रमाद आपको फिर पराधीन बना देगा। इसलिये भाई, दूसरे लोग मुझे कैसा मानते हैं, यह तो वे जानें! पर मैं तो आपसे कह सकता हूँ कि मुझे लोग जितना अच्छा कहते हैं, उससे मैं कम अच्छा हूँ और लोग मुझे जितना बुरा समझते हैं, उससे अधिक बुरा हूँ। कहो तो लिखकर दे दूँ। अगर आपको इसी में सन्तोष है कि हमारी बुराई सारा संसार जान ले, तो मैं भरी सभा में कहता हूँ कि आप लोग जितना मुझको बुरा समझते हैं, उससे मैं अधिक बुरा हूँ और जितना आप लोग अच्छा समझते हैं, उससे कम अच्छा हूँ। अब देखिये, इसमें मेरा क्या बिगड़ गया? बताओ जरा! क्या मैं उस जीवन को पसन्द करूँगा, जो आपकी उदारता पर टिका हो? नहीं-नहीं, कोई विचारशील मानव उस जीवन को पसन्द नहीं करेगा। इसलिये मेरे भाई, इस भ्रमात्मक धारणा को जीवन से निकाल दो कि

लोग हमें कैसा समझते हैं, लोग हमें क्या समझते हैं। अब कोई मुझसे पूछे कि इस सम्बन्ध में मेरा विचार क्या है? तो मैं कहूँगा कि मेरा यह विचार है, यह अनुभव है कि संसार इतना सुन्दर है कि वह मुझको ही नहीं, सभी के सम्बन्ध में उसकी यह उदार मान्यता है कि वह सभी को जितने वे अच्छे होते हैं, उससे अधिक अच्छा समझता है और जितने बुरे होते हैं, उससे कम बुरा समझता है। क्यों, ऐसा क्यों है? तो कहना होगा कि यह इसलिये ऐसा है कि संसार ने हमें 'गैर' नहीं माना, संसार ने हमें 'और' नहीं कहा। माँ अपने बच्चों के दोषों को न देखकर गुणों को ही देखती है और दोषों को देखकर स्वयं दु:खी होती है, स्वयं व्यथित होती है, क्षोभित नहीं होती। तो जिस प्रकृति की गोद में हम पले हैं, उसका यह स्वभाव है कि संसार किसी का ऋणी नहीं रहता, प्रभु किसी के ऋणी नहीं रहते, कर्त्तव्य-निष्ठ किसी का ऋणी नहीं रहता, गुरु किसी का ऋणी नहीं रहता, यह निर्विवाद सत्य है। इसलिये मेरे भाई, इस बात को आप अपने मन से निकाल दें और सदा के लिये निकाल दें कि लोग हमारे बारे में सोचते क्या हैं?

वर्तमान निर्दोषता में आस्था-3

आप स्वयं अपने सम्बन्ध में देखें कि क्या कारण है कि लोग मेरी ईमानदारी को, मेरी सहृदयता को, मेरी उदारता को महत्त्व नहीं देते? मेरे जानते, जिस गुण के साथ अहं लग जाता है, वह गुण भयंकर दोष में बदल जाता है। इसलिये भाई, मानव होने के नाते आपका जो महत्त्व है, वह वैभव होने के नाते नहीं है। वैभव वह रस नहीं दे सकता, जो रस मानवता में है, जो जीवन मानवता में है, जो महत्ता मानवता में है, वह महत्ता आपको किसी की उदारता से कभी भी नहीं मिल सकती, यह निर्विवाद सत्य है। इसलिये भाई, आप बड़े ही सुन्दर हैं।

क्यों? इसलिये कि आपका वर्तमान निर्दोष है, यों। आप जानते हैं अपनी भूल को, आप छोड़ सकते हैं अपनी भूल को। जब आप अपनी भूल को जानकर उसे छोड़ सकते हैं और वर्तमान आपका निर्दोष है, तो बताइये, आपको और क्या चाहिए? आप तो सुन्दर हैं ही, इसमें कोई सन्देह थोड़े ही है। लेकिन यदि आप अपनी वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित नहीं रख सकते, की हुई भूल को दोहराना ही चाहते हैं, जानी हुई बुराई को करना ही चाहते हैं, तो दुनियाँ में किसी की शक्ति नहीं है, जो आपको शान्ति दे सके, जो आपको प्रसन्न रख सके। आपकी शान्ति आपके अधीन है, आपकी प्रसन्नता आपके अधीन है, आपकी महिमा आपके अधीन है। यह स्वाधीनता मंगलमय

विधान से प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को मिली है। इस मिली हुई स्वाधीनता का आदर करें, उपयोग करें। आप अपने को दूसरों की दृष्टि में जैसा देखना चाहते हैं, अपनी दृष्टि में हो जायेंगे। यह कसौटी है कि जब हम अपनी दृष्टि में सुन्दर हो जाते हैं, तब सुन्दर कहलाने की रुचि नाश हो जाती है। आज यदि हम चाहते हैं कि लोग हमें भला समझें, तो उसका अर्थ है कि हम सचमुच उतने भले नहीं हैं। लोग तो भला समझते ही हैं, लोग तो भला समझेंगे ही; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम भले हो गये। भले होने की कसौटी यह है–भले कहलाने की रुचि नाश हो जाय, जीवन में यह प्रश्न ही न आये कि लोग हमें भला समझें। जिसे यह मालूम होता है कि मैं ईमानदार हूँ, लोग मुझे ईमानदार मानें, तो समझना चाहिए कि इसमें कोई बेईमानी छिपी हुई है। आप जानते हैं, दिखाई वह चीज देती है, जो दूर हो। जो चीज दूर होती है, वही दिखाई देती है। जो भिन्न होती है, वह भासित होती है। अगर किसी को अपने में ईमानदारी दिखाई देती है, तो कम से कम वह उससे दूर जरूर है; अगर भासित होती है, तो भिन्न जरूर है, जो चीज अभिन्न हो जाती है, जो चीज प्राप्त हो जाती है, वह न दिखाई देती है, न उसका भास होता है। इसलिये मेरे भाई, अगर हमें अपना दोष दिखाई देता है, तो हम उससे अलग जरूर हैं, भिन्न जरूर हैं। तो देखना किसको है? अपने दोष को, पर हम देखते क्या हैं? पराये को, पराये दोष को और पराये को देखते ही हम दोषी हो जाते हैं और अपने दोष को देखते ही निर्दोषता की ओर अग्रसर होते हैं। अब आप सोचिये, पर–दोष दर्शन में क्या लाभ है और निज दोष–दर्शन में क्या लाभ है? आपको मानना ही पड़ेगा कि पर–दोष–दर्शन के समान अपनी कोई क्षति नहीं है और निज–दोष–दर्शन के समान अपना कोई लाभ नहीं है। इस दृष्टि से जब हम लोग अपने–अपने सम्बन्ध में विचार करेंगे, तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक जो मानव–जीवन का चरम लक्ष्य है, जो मानव–जीवन की महिमा है कि हम अपने लिए, जगत् के लिए, प्रभु के लिए उपयोगी हो सकते हैं, वह प्रत्यक्ष हो जायगी। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। आप जानते हैं? आज यदि कोई यह कहे कि हम भूतकाल के आधार पर किसी निर्दोष को अपना मित्र बनाना चाहते हैं, तो उसे निराश होना पड़ेगा। भगवान् यदि यह विधान बनायें कि हमें ऐसा भक्त चाहिए, जिसका भूतकाल सर्वांश में निर्दोष रहा हो, तो भगवान् को अकेला ही रहना पड़ेगा। परन्तु आप जानते हैं, कि प्रभु पतित–पावन हैं। इसका मतलब क्या यह नहीं हुआ कि हम पतित से दोस्ती कर सकते हैं, पतित के साथ सम्बन्ध जोड़ सकते हैं? परन्तु कब? जब वर्तमान निर्दोषता में आस्था रखें, तब। देखिये, न्याय का अर्थ क्या है? न्याय

का अर्थ है, अपने अपराध से परिचित होना। न्याय का यह पहला अंग है। दूसरा अंग है, उससे पीड़ित होना। उसका तीसरा अंग है, अपराध को न दोहराने का निर्णय करना। यह हुआ न्याय। इसका फल है, निर्दोषता के साथ अभिन्नता। उसका फल है, जीवन का उपयोगी सिद्ध होना। इस प्रकार का न्याय प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहिन अपने साथ कर सकते में समर्थ हैं। अपने प्रति किया हुआ न्याय अपने को निर्दोषता से अभिन्न करता है और आप जानते हैं, कि निर्दोष जीवन में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है, निर्दोष जीवन में ही निस्सन्देहता के लिए विचार का उदय होता है और निर्दोष जीवन में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है।

इस दृष्टि से यह निर्विवाद है कि सर्वतोमुखी विकास एकमात्र निर्दोष जीवन में ही निहित है और उसका उपाय है-की हुई भूल को न दोहराना, जानी हुई बुराई को न करना, अपने दोषों को देखना और निर्दोषता की स्थापना कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना। यही अचूक उपाय है, अपने को सफल बनाने का। यदि आपको यह उपाय जँचे, रुचे तो आप उसको अपनायें और उसको अपनाकर मानव-जीवन के महत्त्व को अनुभव करें। अपने को अपने लिए, जगत् के लिये, प्रभु के लिये उपयोगी बनाकर कृतकृत्य हो जायँ, यही मेरी सद्भावना है।

व्यर्थ-चिन्तन का स्वरूप और माँग की पूर्ति-1

उपस्थिति महानुभाव तथा भाई और बहिन! हम सब मानव होने के नाते साधक हैं। साधक उसको कहते हैं जिसका कोई साध्य है, जिसकी कोई माँग है और जिस पर कोई दायित्व है। अब विचार यह करना है कि हमारी जो माँग है, क्या हमें उसका भली-भाँति अनुभव है? यदि अनुभव है, तो माँग की जागृति में ही काम की निवृत्ति होती है, अर्थात् माँग की जागृति से मानव अकाम हो जाता है, अपनी आवश्यकता का अनुभव करने पर। आवश्यकता का अनुभव कब होता है? जब हम अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति से परिचित होते हैं, और वर्तमान वस्तुस्थिति से परिचित कब होते हैं? जब कार्य के आदि और अन्त में हम शान्त रहने का स्वभाव बनाते हैं। जब तक हम आवश्यक कार्य को पूरा करके और अनावश्यक कार्य का त्याग करके शान्त नहीं हो जाते, तब तक हमें अपनी वस्तुस्थिति का यथेष्ट परिचय नहीं होता। और जब हम अपनी वस्तुस्थिति से ही अपरिचित रहते हैं, तब हमारी माँग क्या है, हम पर दायित्त्व क्या है, यह प्रश्न जीवन का प्रश्न नहीं होता, वर्तमान का प्रश्न नहीं होता।

आप सभी भाई-बहिनों को इस बात का अनुभव होगा कि जब आप थोड़ी देर के लिये भी श्रमरहित होते हैं, अहंकृति-रहित होते हैं, तब अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति में आगे-पीछे का चिन्तन पाते हैं। आगे-पीछे के चिन्तन का अर्थ क्या है? उसका अर्थ है, जो कर चुके हैं, उसका चिन्तन, अथवा जो करना चाहते हैं, उसका चिन्तन।

गम्भीरता से विचार करें। जो कर चुके हैं वह स्वरूप से विहीन है और जो करना चाहते हैं, वह भी वर्तमान में उपस्थित नहीं है। इससे यही सिद्ध हुआ न, कि व्यर्थ-चिन्तन के रूप में जिस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि का चिन्तन हो रहा है, वह वर्तमान में नहीं है, अर्थात् 'नहीं' का चिन्तन ही व्यर्थ-चिन्तन है। इस दशा को ही कुछ लोग अपनी भाषा में कहते हैं-मन की चंचलता। मन की चंचलता कहो, अथवा व्यर्थ-चिन्तन कहो, यह एक दशा है। और दशा के मूल में भूल यह है कि जो वर्तमान में नहीं है, उसका जब चिन्तन होता है, तब हम उस होने वाले चिन्तन के प्रभाव से या तो भयभीत हो जाते हैं या उसका सुख लेने लगते हैं। इतना ही नहीं, उससे इतने तद्रूप हो जाते हैं और कहने लगते हैं-क्या बतायें, हमारा मन बड़ा खराब है, वह इधर-उधर की बातें सोचता है। परन्तु यहाँ पर गम्भीरता से विचार करना है कि मन क्या कोई स्वतन्त्र कर्त्ता है? कोई लेखक कहे कि कलम बहुत खराब है, हम नहीं चाहते, पर वह अपने आप लिखने लगती है। यदि ऐसा कोई लेखक कहे, तो आप क्या निर्णय देंगे? यही न कहेंगे, मालूम होता है, उसका मस्तिष्क ठीक नहीं है। क्योंकि कलम तो लिखने का साधन है, कारण है। क्या कलम लेखक है? लेखक स्वयं लिखता है, और कहता है, कलम लिखती है। इसी प्रकार अपने किये हुए का प्रभाव अपने में अंकित है, अथवा जो हम करना चाहते हैं, उसका प्रभाव अपने में अंकित है। और जब वह प्राकृतिक नियम के अनुसार हमारे न चाहने पर भी विश्राम काल में उत्पन्न होता है, तब हम अपने उस प्रभाव को मन की चंचलता के नाम से कहने लगते हैं। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े धुरन्धर लोगों ने मन की बड़ी घोर निन्दा की है। किन्तु मन यदि हमारी तरह बात करता होता, उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व होता, तो मेरे जानते, वह आपको ऐसी बात नहीं करने देता। परन्तु वह तो बेचारा कर्त्ता है नहीं, कर्त्ता तो आप हैं। इसलिये आप मनमाने ढंग से अपने ही मन की, अपने ही द्वारा निन्दा करते रहते हैं, और उस कृत्य को आप अपनी समझदारी समझते हैं। सोचते हैं, हम बड़े अच्छे आदमी हैं, हम अपने मन की बुराई कर सकते हैं, और हम मन के दोषों को जानते हैं।

साधकगण गम्भीरता से विचार करें। आपके द्वारा किये हुए कृत्य का परिणाम कोई दूसरा भोगे और उस पर आप आरोप लगावें तो इसमें आपकी बड़ी भारी भूल है। उस भूल को सामने रखकर जब मैं विचार करता हूँ, तो मुझे तो स्पष्ट मालूम होता है कि जिसे लोग मन की चंचलता के नाम से कहते हैं, वह एक वर्तमान वस्तुस्थिति है और इसी का नाम व्यर्थ-चिन्तन है। किन्तु जब आप अपनी ओर देखेंगे, तो उस व्यर्थ-चिन्तन के साथ-साथ आपके जीवन में जो आपकी वास्तविक माँग है, उसकी स्मृति भी मौजूद है। परन्तु यह स्मृति बहुत शिथिल है, और व्यर्थ-चिन्तन बहुत सबल है। इस भयंकर परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिये? यही आज का मूल प्रस्तावित विषय है।

महानुभाव! धीरजपूर्वक विचार करें। जिस समय आप अपने व्यक्तित्व में अपनी बुद्धि-दृष्टि के द्वारा किये हुए का चिन्तन पाते हैं, उस समय आप यह भी जानते हैं कि यह चिन्तन हमारे न चाहने पर भी हो रहा है। हम नहीं चाहते थे कि किये हुए की पुनरावृत्ति जीवन में हो; किन्तु हमारे न चाहने पर भी ऐसा हो रहा है। यह आप सभी भाई-बहिन जानते हैं। दूसरी बात यह है कि हम कर नहीं रहे हैं, वह स्वत: हो रहा है। इतना ही नहीं, हम चाहते तो हैं कि चिन्तन न हो, किन्तु हमारे न चाहने पर भी, न करने पर भी चिन्तन दिखाई देता है। यह क्या है? यह वही बात है, जैसे निर्मल दर्पण में आप अपना चित्र देखते हैं। मन रूपी निर्मल दर्पण में आप अपने पूर्व कृत्य के चित्र को देखते हैं। अथवा भविष्य में जो करना चाहते हैं, उसको देखते हैं। तात्पर्य यह है कि जो कार्य जमा है, उसे देखते हैं, जो कर चुके हैं, उसे देखते हैं। और ऐसा जो आप देखते हैं, वह आपको अच्छा क्यों नहीं लगता? वह इसलिये अच्छा नहीं लगता कि जो कर चुके हैं, उसके परिणाम से आप परिचित हैं। उसका परिणाम क्या है? न वह वस्तु है, न वह परिस्थिति है, न वह अवस्था है, जिसमें उसका चिन्तन किया गया। केवल उसका चिन्तन मात्र है। और चिन्तन आपके जीवन में उस स्मृति को ढक लेता है, जो किसी की प्रियता है, जो किसी का बोध है, जो किसी का योग है।

आज एक प्रथा चल पड़ी है-कब से चली है, यह तो मैं नहीं कह सकता। किन्तु प्रथा है अवश्य। उसे अनादि तो मैं नहीं कह सकता; किन्तु ऐसी प्रथा है, कि जब कोई व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न हो जाय, तब बलपूर्वक आप किसी अन्य चिन्तन को करना आरम्भ कर दें। ऐसा प्राय: हम सभी ने किया है, और बहुत से लोग करते भी हैं। परन्तु बलपूर्वक किये हुए इस चिन्तन का भी प्रभाव अंकित होता जाता है, और जो किया हुआ है, उसका भी चिन्तन

होता रहता है। हम अपना मनोनीत रुचिकर चिन्तन करते रहते हैं और किये हुए का चिन्तन अपने आप होता रहता है। इस स्थिति में हम अपने में एक मिथ्या अभिमान और लाद लेते हैं कि हमने इतनी देर बैठकर जप किया, ध्यान किया, पाठ किया। और जब दो साधक आपस में दिल खोलकर मिलते हैं, तब आपस में यही कहते हैं-क्या बतायें, अभी हमारा मन शान्त नहीं हुआ, शुद्ध नहीं हुआ, स्वस्थ नहीं हुआ। एक ओर बलपूर्वक किये हुए चिन्तन का अभिमान, दूसरी ओर व्यर्थ-चिन्तन होने की व्यथा। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति से, मेरे जानते, सभी साधक परिचित हैं। ऐसा करते-करते आयु का बहुत बड़ा भाग बीत गया। परन्तु इस रोग की निवृत्ति नहीं हुई। इस व्यथा से जब कोई साधक पीड़ित हुआ, तब 'उसने' जिसे हम नहीं जानते हैं, जो हमें जानता है, जो सदैव रहेगा, तब भी जब 'यह' नहीं रहेगा, उसने जो इसका आश्रय है, प्रकाशक है-उसको प्रकाश दिया। और प्रकाश यह दिया कि भाई, तुम यह जानते हो कि तुम कर नहीं रहे हो, हो रहा है, चाहते नहीं हो, फिर भी हो रहा है, और तुम उसे देख रहे हो, वह तुम्हारा दृश्य है। और तुम यह भी जानते हो कि कोई दृश्य ऐसा नहीं है, जिसमें सतत परिवर्तन न हो, जिसका विनाश न हो, जिसका अन्त न हो। जब तुम यह जानते हो, तो सतत परिवर्तन होने वाले दृश्य से इतने भयभीत क्यों होते हो? मेरे अपने मित्र, साथी! तू अभय हो जा। भय मत कर। उससे तादात्म्य मत जोड़, उसका सुख मत ले। जिससे आप तादात्म्य तोड़ देते हैं, जिससे आप भयभीत नहीं होते हैं, जिससे आप सुख नहीं लेते हैं, वह अपने आप सदा के लिये आपसे अलग हो जायगा। और तुम बिना ही प्रयत्न के स्वत: उस अचिन्त दशा को प्राप्त करोगे, जो तुम्हारी माँग है। किन्तु मेरे प्यारे! जब अचिन्तता तुम्हारे मन में आ जाय, तब उसे अपना आश्रय मत बनाना, उसको अपनी खुराक मत बनाना, उससे भी तादात्म्य मत जोड़ लेना। तब, अपने आप उसकी स्मृति जागेगी, जो वास्तव में सदैव आपका अपना है। प्रिय की स्मृति अन्य की विस्मृति कराने में समर्थ है। अन्य की विस्मृति दूरी और भेद मिटाने में हेतु है। दूरी के नाश में ही योग की अभिव्यक्ति, भेद के नाश में ही बोध की अभिव्यक्ति और भिन्नता के नाश में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहिन बड़ी ही सुगमतापूर्वक योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो सकते हैं। यह है उस अनन्त का दिया हुआ प्रकाश। जिसका यह प्रकाश है, वह उसका भी है, जो उसे मानता है, और उसका भी है, जो उसे नहीं मानता। उसके न मानने पर भी वह उतना ही आपका है, जितना उसका है, जो उसे

मानता है। अथवा जितना वह अपना है, उतना ही आपका है उस समय भी, जब उसे नहीं मानते। ऐसे उदार ने मानव का निर्माण किया है।

व्यर्थ-चिन्तन का स्वरूप और माँग की पूर्ति—2

परम उदार प्रभु ने मानव का निर्माण केवल इसलिए किया है कि उसे कोई अपना कहे। आप कहेंगे, क्यों भाई! अपना कहने में अपने के प्रति कितनी गहरी प्रियता जाग्रत होती है? इसे वे ही जानते हैं, जिन्होंने किसी को अपना कहा है। पर, किसे अपना कहना है? जिसे देखा नहीं है। किसे अपना कहना है? जिसे सुना है। सुने हुए की आत्मीयता में ही प्रियता है, और देखे हुये की निर्ममता में ही निर्विकारता है। मिले हुये की असंगता में ही स्वाधीनता है। इस दृष्टि से निर्विकारता, स्वाधीनता, प्रियता प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को मिल सकती है और इसी जीवन में मिल सकती है, इसी परिस्थिति में मिल सकती है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिये। तात्पर्य केवल इतना है कि व्यर्थ-चिन्तन और अखण्ड स्मृति, ये दोनों एक ही जीवन में हैं, अर्थात् एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ममता, कामना, तादात्म्य के आधार पर व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति और आत्मीयता के द्वारा अखण्ड स्मृति की जागृति स्वत: होती है। यह ऐसी बात नहीं है, जिस पर आप केवल श्रद्धा करके रह जायँ। यह तो ऐसी बात है कि उसको अपनाकर अनुभव करें। इस बात का अनुभव करें कि आपका अपना कोई है नहीं। यदि नहीं है, तो क्या आप अकेले नहीं रह सकते हैं? यदि अकेले नहीं रह सकते, तो कोई आपका अवश्य है। परन्तु आस्था उसमें न हो, जो आपके न चाहने पर चला जाय, बुलाने पर भी न आये। क्या उसमें ममता करें? ऐसा करते हैं, तो यह हमारी अपनी भूल है। सोचिए, अज्ञान है क्या? अविद्या है क्या? जाने हुए का अनादर, न जानना नहीं। आप जानते हैं कि जो मिला है, वह आपका व्यक्तिगत नहीं है। आप जानते हैं कि जो मिला है वह 'पर' के लिये है, 'स्व' के लिये नहीं है। किन्तु फिर भी जो अपना नहीं है, उसे अपना मानते हैं। जो 'पर' के लिये है, उसे अपने लिये सँभालकर रखते हैं। इसी भूल का परिणाम है कि आप व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध हो गये। मेरे भाई! जो सदैव अपना है, न मानने पर भी अपना है, न जानने पर भी अपना है; परन्तु उसको अपना मानने की सामर्थ्य कहाँ चली गई? मेरा निवेदन है कि अखण्ड स्मृति के बिना नीरसता नहीं जायेगी, पराधीनता का नाश नहीं होगा, अशान्ति का नाश नहीं होगा। अखण्ड स्मृति के बिना यह सम्भव नहीं है। और अखण्ड स्मृति निर्ममता-निष्कामतापूर्वक आत्मीयता से ही साध्य है। क्या हम मिले हुये की

ममता नहीं छोड़ सकते? अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि की कामना नहीं छोड़ सकते? क्या हम सुने हुये प्रभु को अपना नहीं मान सकते? क्या हम अवस्थातीत जीवन में आस्था नहीं कर सकते? कर सकते हैं। तो, जो कर सकते हैं, उसको न करें और जो नहीं कर सकते हैं, उसको करने का प्रयास करें, यही तो मूल भूल है। इस भूल का अन्त आप कर सकते हैं और शान्ति के द्वारा कर सकते हैं। क्योंकि शान्ति प्राप्त होने पर आपके जीवन में सजगता अपने आप आयेगी, अपने आप सामर्थ्य आयेगी। अपने आप आपकी जो वास्तविक माँग है, उसकी जागृति होगी-स्मृति के रूप में। अब प्रश्न केवल इतना रह जाता है कि हम सभी साधक 'साधक' होने के नाते, आवश्यक कार्य पूरा करें, अनावश्यक कार्य का त्याग करें, और कार्य के अन्त में शान्ति का सम्पादन सहज भाव से होने दें। जैसे-जैसे शान्ति का सम्पादन सबल और स्थायी होता जायगा, वैसे-ही-वैसे आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय, प्रीति की जागृति स्वतः होगी। यही है-अखण्ड स्मृति। अखण्ड स्मृति से निराश नहीं होना है। वह आपका अपना जीवन है। वह आपकी अपनी निज की सम्पत्ति है। स्मृति ही तो जीवन है। आप सोचिये कि स्मृति से भिन्न क्या प्रियता कोई अन्य वस्तु है? स्मृति से भिन्न क्या बोध कोई और वस्तु है? स्मृति से भिन्न क्या प्राप्ति कोई और वस्तु है? नहीं है। स्मृति का ही रूप है बोध, स्मृति का ही रूप है प्राप्ति, स्मृति का ही रूप है अगाध प्रियता।

इस दृष्टि से जब आप विचार करेंगे, तो ज्ञात होगा कि व्यर्थ-चिन्तन के नाश में ही अखण्ड स्मृति है, और अखण्ड स्मृति की जागृति में ही जीवन की पूर्णता है। इस पूर्णता से हमें निराश नहीं होना है, अपितु इस पूर्णता के लिये नित-नव उत्कट लालसा जगाना है। लालसा कब जागेगी? जब आप इस बात को स्वीकार करेंगे कि हम सभी को अखण्ड स्मृति प्राप्त हो सकती है, व्यर्थ चिन्तन मिट सकता है। पर उसके लिये जाने हुए के प्रभाव की आवश्यकता है। किये हुए का प्रभाव, किये हुए के द्वारा नाश नहीं होता। होता क्या है? जिस भाई ने गुजराती दाल खाई होगी, वह जानता है कि गुजराती दाल में गुड़ भी पड़ता है, नमक भी पड़ता है और खटाई भी पड़ती है। ये तीनों ही चीजें अपना-अपना स्वाद रखती हैं। एक के द्वारा दूसरे का नाश नहीं होता। इसी प्रकार किये हुए का प्रभाव किये हुए से नाश नहीं होता। यह दार्शनिक सत्य है। यदि आप महानुभाव विचार करेंगे, तो आपका यह अपना सत्य मालूम होगा। इसलिये मेरा नम्र निवेदन है भाई, कि जो आपके बिना किये हो रहा है, बिना चाहे हो रहा है, उससे भयभीत न हों, उसका सुख न लें, उससे तादात्म्य

न जोड़ें, अपितु उससे असहयोग करें, और जो सदैव आपका अपना है, उसमें चाहे आत्मीयता करें और चाहे उसकी खोज करें। देखिये, खोज और आत्मीयता—ये दोनों ही स्वतन्त्र पथ हैं। विचारक खोज करते हैं, श्रद्धावान् आत्मीयता स्वीकार करते हैं। किन्तु दोनों प्रकार के पथ के अनुसरण करने के लिये मिले हुये की ममता का त्याग, अप्राप्त वस्तु की कामना का त्याग, मिले हुये के दुरुपयोग का त्याग अनिवार्य है। इस दृष्टि से हम सब व्यर्थ-चिन्तन से मुक्त होकर, अखण्ड स्मृति से अभिन्न होकर, कृतकृत्य हो सकते हैं। यह निर्विवाद सत्य है।

व्यर्थ-चिन्तन और उसका दुष्परिणाम—1

मानव सेवा संघ की सत्संग-योजना में जीवन है, और वह एक है। रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, परिस्थिति का भेद होने से साधन में भेद का होना सर्वथा स्वाभाविक है। परन्तु माँग के रूप में तथा उसकी प्राप्ति के फल में, जीवन की उपलब्धि में, कोई अन्तर नहीं है, अर्थात् साधन में भेद होने पर भी साध्य की प्राप्ति में कोई अन्तर नहीं है। रुचि के आधार पर साधन एक नहीं है, परिस्थिति के आधार पर साधन एक नहीं है; किन्तु मानव होने के नाते जब हम सब एक हैं, तो हम सब की अन्तिम माँग भी एक है और अन्तिम उपाय भी एक है। 'अन्तिम उपाय' की बात सुनकर यह मत सोच बैठना कि मैं व्यक्तिगत भिन्नता मानने पर भी यह बात क्यों कहता हूँ। सोचिये, अन्तिम उपाय क्या है? यही न, कि हम लोगों के जीवन में से व्यर्थ-चिन्तन का नाश हो जाय। व्यर्थ-चिन्तन का अर्थ क्या है? मेरे भाई! जो आपके न चाहने पर होता है, आपके न करने पर होता है, ऐसा जो चिन्तन है, वह 'व्यर्थ-चिन्तन' है। एक बात। दूसरी बात यह है कि जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन व्यर्थ-चिन्तन है। तीसरी बात यह है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसका चिन्तन व्यर्थ-चिन्तन है। इस व्यर्थ-चिन्तन से सभी साधकों को चाहे वे भौतिकवादी हों, चाहे वे अध्यात्मवादी हों, चाहे वे ईश्वरवादी हों, बचना है। क्यों बचना है? इसलिये कि व्यर्थ-चिन्तन के रहते हुये न तो शान्ति मिलती है और न स्वाधीनता मिलती है। इतना ही नहीं, मिली हुई सामर्थ्य का ह्रास भी होता है और यह बड़ी भारी क्षति है। क्या आप नहीं जानते, कि प्राकृतिक-विधान के अनुसार जिस भाई को जो सामर्थ्य मिली है, जो योग्यता मिली है, जो परिस्थिति मिली है, वह उसकी आवश्यकता के अनुसार ठीक-ठीक ही मिली है, अधिक नहीं मिली, कम नहीं मिली। जितनी योग्यता से हमारा विकास हो सकता है, जितनी सामर्थ्य से हमारा विकास हो सकता

है, जिस परिस्थिति में हमारा विकास हो सकता है, हमें वही सब मिला है। मानव-सेवा-संघ के दर्शन में मिले हुए का आदरपूर्वक स्वागत करना है, उससे खीजना नहीं है। जिसने दिया है, उसने हम लोगों से लिया कुछ नहीं, दिया ही दिया है। तो बिना लिये जो देता है, वह आवश्यकता के अनुसार ही देता है, यह प्राकृतिक सत्य है। लेने की आशा से जो कोई देता है, वह भूल कर सकता है। किन्तु जिसने बिना किसी आशा के केवल दिया ही दिया है, लिया कुछ नहीं, उसके देने में क्षोभ नहीं है, क्रोध नहीं है, संकीर्णता नहीं है, बे-समझी नहीं है, असावधानी नहीं है, अपितु ठीक-ठीक सजगतापूर्वक, सावधानीपूर्वक, विधिवत् दिया है। आप कहें, कि हम कैसे मानें कि यह ठीक है? यही प्रश्न कोई मुझसे आज से लगभग 50 वर्ष पहले करता, तो मेरा भी यही उत्तर होता। सोचता कि 'नहीं-नहीं', देने वाले को अक्ल ही नहीं है, दुनिया के शब्दों में एक होनहार बालक को, जो पढ़ना चाहता था, अन्धा बना दिया, इत्यादि ऐसा मैं सोचता। परन्तु आज मैं बड़ी ही ईमानदारी से कहने के लिये तत्पर हूँ कि मुझे अन्धा बनाना किसी की मेरे लिये अगाध आत्मीयता और प्रियता का ही शुभ परिचय है। आज का मानव उसी को कोसता है, जो उसका इतना अपना है कि जितना वह स्वयं भी अपना नहीं है।

आप जानते ही हैं कि अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है, 'कुछ नहीं' से 'सब कुछ' बनता है। जिसमें यह सामर्थ्य है, क्या उसके पास कोई अभाव है? जो सर्वज्ञ है, सब कुछ जानता है, क्या वह बे-समझ है? कदापि नहीं। इसलिये भाई मेरे! व्यर्थ चिन्तन में प्रधान कारण है—प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत न करना। यदि आप प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत नहीं करते हैं, तो कभी व्यर्थ-चिन्तन से मुक्त नहीं हो सकते। जीवन का बहुत बड़ा भाग इसी चिन्ता में निकल जाता है—ऐसा क्यों हुआ? ऐसा होता, तो अच्छा होता। ऐसा क्यों हुआ? ऐसा होता, तो ठीक होता, और ऐसा, जो हम कहते हैं कि ऐसा क्यों हुआ? इसके मूल में दु:ख का भय छिपा रहता है, सुख का प्रलोभन छिपा रहता है। दु:ख का भय और सुख के प्रलोभन को रखते हुये, क्या होना चाहिये—इसका निर्णय करना कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिये भाई जो मिला है- रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, वस्तु, परिस्थिति, अनुकूलता, प्रतिकूलता—कुछ लोग उसी से जीवन में आनन्द पाते हैं। बहुत से भाई-बहिनों ने मुझसे ऐसे प्रश्न भी किये हैं कि हम जिसके साथ भलाई करते हैं, वह हमारे साथ बुराई करता है। ऐसा क्यों? अगर वे लोग अपने दिल से सोचें कि बुराई करने पर—जैसे, कल्पना करो, एक बाप कहता है कि मेरा बेटा मेरे साथ बुरा व्यवहार करता है—कोई भाई अपने पर इसी बात को घटाकर देखे। क्या मेरा

भाई मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता? मैं भला करता हूँ, वह बुरा करता है। इतने पर भी तो हजरते इंसान! तुम्हारी यह दशा है, कि वह नालायक बेटा तुम्हें जितना प्यारा लगता है, लायक पड़ोसी का लड़का उतना प्यारा नहीं लगता। जरा अपने दिमागी स्टैण्डर्ड के बारे में तो सोचिये कि उसकी क्या हालत है, हुजूर की? यानी पड़ोसी के लायक बेटे की अपेक्षा आपको अपने नालायक बेटे को धन देना पसन्द है, कि जो आपका अपमान करता है और जिसकी आप शिकायत भी करते हैं। यह तो आपकी दशा है! और प्रभु के न्याय की ओर देखिये कि वह प्रेम से कितना भरा है! इतने पर भी जब हम ममता नहीं छोड़ सकते। और अगर राम जैसा आदर्श बेटा तुम्हें मिल जाता, तो न जाने तुम्हारी क्या दशा होती, दोस्त? कर्कशा नारी मिलने पर तो काम से रहित नहीं हो सकते। अगर सुन्दर नारी मिल जाती, तो क्या होता? अपमान सहने पर भी देहाभिमान गला नहीं सकते। यदि सम्मान मिल गया होता, तो न जाने क्या होता? पेट खराब होने पर भी बिना भूख के खा सकते हैं, यदि पेट ठीक होता, तो दुनिया को खा जाते क्या? तात्पर्य यह है भाई! कि जिसने आपको जो कुछ दिया है, वह तुम्हारे हित को सामने रखकर ही दिया है, आपके कामों का दण्ड नहीं दिया है। मैं आपसे निवेदन कर दूँ। मानव से इतर योनियों में क्या होता है, मैं नहीं जानता। परन्तु मानव को प्रभु दण्ड नहीं देता, विधान मानव को दण्ड नहीं देता, तो फिर क्या देता है? जिस परिस्थिति से आपका विकास होता है, वही परिस्थिति आपको देता है।

दु:ख आने पर भी हम दु:ख के प्रभाव को नहीं अपनाते, सुख के चले जाने पर भी हम सुख की दासता को नहीं छोड़ते, फिर आप क्या सुख के हकदार हैं? गौर तो करें जरा। जिन दिनों मेरा नाम विरक्त साधुओं में था, लँगोटी लगाये, नंग-धड़ंग घूमता फिरता था। तब एक बार एक माँ ने-मैनपुरी के श्री मन्नारायण अग्रवाल की माँ ने-देहली में मुझसे प्रश्न किया कि ईश्वर ने सृष्टि क्यों बनाई? मैंने कहा-इससे आपको क्या परेशानी है? उन्होंने कहा—नहीं, आपको बताना पड़ेगा। मैंने बड़ी ईमानदारी से कहा कि, "माँ ईश्वर ने सृष्टि मेरे लिये बनाई।" यह सुनकर तो और भी चक्कर में पड़ गई। पुन: पूछा—ऐसी क्यों बनाई कि जिसमें इतना दु:ख है? मैंने कहा—सृष्टिकर्त्ता ने ऐसा सोचकर उसे दु:खपूर्ण बनाया कि जिससे मैं 'उसे' भूल न जाऊँ। उसने सोचा, कहीं मुझे भूल न जाय, मुझसे अलग न हो जाय, इसलिये उसे दु:खमय बनाया।" आप देख लीजिये, जीवन में आप देख दीजिये। जिस सृष्टि की आप निन्दा करते हैं, बुरा समझते हैं, उससे जब तक आप अपनी कामना पूरी नहीं करना चाहते, सृष्टि आपको दिखती है क्या? है किसी का अनुभव?

जब आप संकल्प पूरा करने का सुख भोगना चाहते हैं, तब सृष्टि का भास होता है। अथवा निर्विकल्प स्थिति में सृष्टि का भास होता है। अच्छा, मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर आप वह सृष्टि ऐसी बना देते हैं कि तुम्हारे सभी संकल्प पूरे हो जायँ, तो तुम न जाने कैसे संकल्प कर डालते। महाराज! आपको अपने पर कन्ट्रोल है क्या? देखिये, आपको बढ़िया सुख क्यों नहीं मिलता? यह नहीं कि वह आपके भाग्य में नहीं। जरा ऊँचे दर्जे का दर्शन बोल रहा हूँ, घबड़ाना मत। इसलिये नहीं मिलता कि जो कह दिया, उसे करते नहीं। अगर तुम घटिया सुख को छोड़ सकते, तो बढ़िया मिले बिना रहता नहीं। आपके जीवन में अभिमान क्यों आता है? केवल इसलिये आता है कि आप दूसरों को बुरा समझना बन्द ही नहीं करते। फिर अभिमान नहीं आयेगा? आप भूखे क्यों रहते हैं? इसलिये कि खिलाने में आपको मजा नहीं आता, खाने में मजा आता है। जितना दु:ख आपके जीवन में है, वह एकमात्र सुख के प्रलोभन का नाश करने के लिये है। आपने तय कर लिया है कि हम सुख का अनुभव नहीं छोड़ेंगे।

उधर विधान ने तय कर लिया है कि परिणाम-स्वरूप दु:ख आपकी छाती पर चढ़े। ईश्वरवादी हों, तो महाराज माफ करेंगे, अनीश्वरवादी हों, वे भी माफ करेंगे। भौतिकवादी भले ही हों, अध्यात्मवादी भले ही हों। सुख का भोगी दु:ख से बचेगा नहीं, बचेगा नहीं। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। तो मेरा चिन्तन क्या है? आप जानते हैं, क्या है? पहली बात, जैसा मैंने निवेदन किया कि आप प्राप्त का आदरपूर्वक स्वागत नहीं करते। एक और सूक्ष्म बात है, इससे भी सूक्ष्म, और वह है कि आप प्राप्त में प्रियता नहीं रखते। बड़ी सूक्ष्म बात है। नित्य उसे कहना चाहिये, जो नित्य प्राप्त है। और परिस्थति उसे कहते हैं, जो मिली हुई है। मिले हुये का आदरपूर्वक स्वागत नहीं करते और नित्य प्राप्त में आत्मीयता नहीं करते, नित्य प्राप्त आपको प्यारा नहीं लगता। तो, जिसे नित्य प्राप्त प्यारा नहीं लगता, उसमें व्यर्थ का चिन्तन नहीं होगा, तो क्या होगा? आपको नित्य प्राप्त क्या है? ईश्वरवादी को ईश्वर नित्य प्राप्त है, आत्मवादी को आत्मा नित्य प्राप्त है। शान्ति के पुजारी को शान्ति नित्य प्राप्त है। स्वाधीनता नित्य प्राप्त है, नित-नूतन रस नित्य प्राप्त है। किन्तु नित्य प्राप्त में आपकी प्रियता नहीं है, आत्मीयता नहीं है। मिले हुये का आप स्वागत नहीं करते। फिर आप व्यर्थ चिन्तन से बच नहीं सकते। और आप जानते हैं कि बचने का क्या अर्थ होता है? जो न कर सके, उसको तो करने को सोचे और जो कर सके, उससे जान बचाये। क्या बतायें महाराज! धन होता, तो दान दे देते। हमने कहा, भले आदमी, उसमें से कितना दे दिया जो पास में

है? जो है, उसमें से कितना दे दिया? यह भी व्यर्थ-चिन्तन का हेतु है। जो कर सकेंगे, उसे करेंगे नहीं और जो नहीं कर सकेंगे, उसको करने की सोचते रहेंगे। तो यह व्यर्थ-चिन्तन प्राकृतिक दोष नहीं है। दोस्त! बहुत गम्भीरता से सोचना। यह भूल-जनित है और सार्थक-चिन्तक, यह उपार्जित नहीं है, यह दैवी देन है। आप सार्थक चिन्तन को पुरुषार्थ के आधार पर प्राप्त करना चाहते हैं और व्यर्थ-चिन्तन को प्राकृतिक दोष मानकर उससे छुटकारा पाना चाहते हैं। नहीं पा सकते। यह बात, भैया मैं अपने विचार के आधार पर कहता हूँ। अगर आप पा सकते होते, तो मुझसे भी अकेले में बात कर लें। अगर मेरी भूल होगी, तो मैं आपकी बात मान लूँगा। परन्तु मेरे जानते, कोई भी भाई, कोई भी बहिन बलपूर्वक सार्थक-चिन्तन नहीं कर सकते, बलपूर्वक व्यर्थ-चिन्तन नहीं मिटा सकते।

व्यर्थ-चिन्तन और उसका दुष्परिणाम—2

जब तक आप यह न स्वीकार कर लें कि व्यर्थ-चिन्तन भूल-जनित है, सार्थक-चिन्तन दैवी देन है, तब तक आप उसे नहीं मिटा सकते। आप कहेंगे कि सार्थक-चिन्तन को हम अपना पुरुषार्थ क्यों न मान लें? भैया मेरे, सार्थक-चिन्तन को यदि तुम अपना पुरुषार्थ मानोगे, तो अभिमान में डूब जाओगे। आपको शायद मालूम हो कि यह साधारण बात नहीं है दोस्त। प्रह्लाद जैसे परम और प्रभु-विश्वासी भक्त का चरित्र देख लीजिये। प्रह्लाद जैसे साधारण नहीं, जिन्होंने एक घटना के आधार पर मान लिया कि प्रभु रक्षक है, और उसमें इतनी गहरी दृढ़ता कर ली कि भय जैसी चीज उसके जीवन में रही ही नहीं। उन्होंने पुरुषार्थपूर्वक यह मान लिया कि मैं तो अचाह हो गया, मुझे तो कुछ चाहिये नहीं। परन्तु देखिये, जो हम सबका अपना है, वह कितना महान् है। देखिये, ईश्वरवाद का अर्थ यह नहीं है कि यदि आप ईश्वर को मानें, तब तो ईश्वर है, यदि न मानें तो नहीं है। ईश्वरवाद का यह अर्थ आप कभी न समझें और कहें कि जो ईश्वर को नहीं मानते, उनके लिये ईश्वर नहीं है। और जो कहें कि हम मानते हैं, वह उसकी बपौती है। यह बिलकुल झूठी बात है। ईश्वर तो कहते ही उसको हैं कि जिनका होना आपके न मानने पर निर्भर नहीं। अरे, वह भी ईश्वर है, जो आपके न मानने पर न रहे, और जो तुम्हारे मानने पर रहे? इसका मतलब तो हुआ कि तुम्हीं ईश्वर हो गये। अगर तुम्हारे मानने से कुछ होता है और न मानने से नहीं रहता, तो तुम ईश्वर हुए कि ईश्वर की सत्ता सिद्ध हुई? ईश्वरवाद का असली अर्थ है कि वह उसका भी उतना ही है, जो उसे मानता है और जो उसे नहीं मानता,

उसका भी वह उतना ही है। जो बलपूर्वक शासन करे, उसे ईश्वर नहीं कहते। ईश्वर बलपूर्वक शासन नहीं करता किसी पर। अब मैं आपसे पूछता हूँ-अगर ईश्वर बलपूर्वक शासन करने लगे, तो जब झूठ बोलना चाहो, तब वह बोलने की शक्ति छीन ले, तो तुम क्या कर लोगे? बहुत से लोग कहते हैं कि भगवान् परीक्षा लेता है। क्या भगवान बे-समझ है, जो परीक्षा लेता है? भगवान् क्या सर्वत्र नहीं है? भगवान् क्या सर्व का ज्ञाता नहीं है? अरे, उसके तो सिखाने के अनोखे-अनोखे ढंग हैं, बाबू। वह परीक्षा-अरीक्षा कुछ नहीं लेता। परीक्षा लेने की उसे जरूरत ही क्या है। वह क्या अल्पज्ञ है, जो परीक्षा लेगा? और जो अल्पज्ञ है, वह भगवान् हो सकता है क्या?

तो महाराज, प्रह्लाद जी को ऐसा ही मालूम हुआ कि मैंने प्रभु में विश्वास किया है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, मैं निष्काम हूँ, मैं निर्वैर हूँ, मैं द्वेष-रहित हूँ। समस्त गुणों का आभास श्री प्रह्लाद जी को अपने में हुआ। कथा सुनी होगी आपने। चाहे उसे आप काल्पनिक मानें, चाहे इसे इतिहास मानें, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। बात को समझने के लिये निवेदन कर रहा हूँ। तो इन गुणों का आभास जब श्री प्रह्लाद जी को हो गया, और फिर आगे देखिये; प्रत्यक्ष रूप से उसे जलाने के लिये किसको बिठाया था? होली को। किसको? होली को। और वे किसके पुत्र जल गये थे? गुरु-पुत्र जल गये। और प्रह्लाद ने कहा था कि अगर मेरे हृदय में द्वेष न हो, तो गुरु-पुत्र जीवित हो जायँ। यानी प्रत्यक्ष रूप से उन्हें द्वेष-रहित होने का भास होता है। भगवान् ने पूछा---भैया, कुछ चाहते हो? बोले, नहीं मुझे कुछ नहीं चाहिये। बिगड़ गये। बोले, मैं कोई बनिया हूँ? फिर भी प्रभु कहते हैं—देखिये, प्रभु की कृपालुता कितनी अधिक है! मैं तो कभी-कभी सोचकर हैरान हो जाता हूँ कि यह मानव उन्हें न जाने इतना प्यारा क्यों लगता है। वे फिर भी कहते हैं—नहीं, भैया प्रह्लाद! तुम माँगो। तुम माँग लो। प्रह्लाद जी ने कहा---तो अच्छा, मैं यह चाहता हूँ कि मैं कुछ न चाहूँ। आगे अब आप देखिये। मैं यह चाहता हूँ कि मैं कुछ न चाहूँ। प्रभु ने कह दिया 'एवमस्तु'। अब देखिये, गुण 'उसी' की देन है। जिन्हें वह ऐसे निराले ढंग से देता है कि लेने वाले को मालूम ही नहीं होता कि मैंने लिया। उसकी देन है। अब प्रह्लाद जी को चेत आया और चेत आने पर—देखिये, चेत की पहिचान क्या है? जिस समय अपने दोष का दर्शन हो जाय, समझ लो, तुम जैसा विचारशील कोई नहीं। और जिस समय पर-दोष-दर्शन हो, उस समय समझ लो कि हमारे जैसा कोई बे-समझ नहीं। बे-समझ की सबसे बड़ी पहिचान है कि जो पराये दोष का पंडित हो। और भैया, विचारशील की कसौटी है, कि जो अपने दोष का

ज्ञाता हो। तो प्रह्लाद को अपना दोष दीख गया। कहने लगे—प्रभु! एक प्रश्न करना चाहता हूँ।—हे प्रभु, यह प्रश्न करना चाहूँ कि आपकौ बैरी मेरो बाप हो, कि बाको अभिमान? सुनकर भगवान सिट-पिटा गये। देखिये, प्रभु की कृपालुता! भगवान् संकोच में डूब गये। महाराज, यह तो बताओ कि आपने मेरे बाप को मारा कि उसके अभिमान को? प्रभु का कैसा अनुपम उदार स्वभाव है कि तुरन्त ही अपने को अपराधी मान लिया, अपने अभिमानी भक्त के सामने। भैया, मैंने मारो तो तेरे बाप को ही है। मैं आपसे पूछता हूँ—ममता रहते हुए कोई निष्काम रह सकता है क्या? नहीं रह सकता। इसलिये मेरे भाई, जितना भी दिव्य जीवन है, सब अनन्त की देन है, जितना भी दोष है, सब अपनी भूल का परिणाम है। इसी तथ्य के आधार पर दोष मिट सकते हैं। दोष अगर प्राकृतिक हो, तो मिट ही नहीं सकता और जो लोग इस बात को नहीं मानते हैं, वे कहते हैं-"गुण-दोष दृष्टि कीन्ह करतार।" वहाँ करतार का अर्थ तो गोस्वामी जी ने भिन्न ही लिया होगा।

तो भैया, वे लोग कहते हैं—इंसान कमजोरियों से बना है। अरे, इंसान कमजोरियों से नहीं बना है। इंसान अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित है। कमजोरियाँ भूल-जनित हैं, और इसलिये मिट सकती हैं। उन कमजोरियों में 'व्यर्थ-चिन्तन' भी एक बड़ी प्रबल निर्बलता है। इस व्यर्थ-चिन्तन ने ही प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास किया, सार्थक-चिन्तन को जाग्रत नहीं होने दिया, देहाभिमान को पोषित किया, पराधीनता में आबद्ध किया। और भी न जाने क्या-क्या किया, इस व्यर्थ चिन्तन ने। अतः इसका अन्त करना अनिवार्य है, और वह हो सकता है। मैंने आपसे निवेदन किया कि मिले हुए का आदरपूर्वक स्वागत करो। भयंकर से भयंकर परिस्थिति आ जाय, तब भी कह दो-"आओ, मेरे प्यारे! आओ, आओ, आओ। तुम कोई और नहीं हो। मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम जिस लिये आये थे, वह भी जानता हूँ। तुमने मेरे लिये आवश्यक समझा होगा कि मैं दुःख के वेश में आऊँ, इसलिये तुम दुःख के वेश में आये हो। तुमने आवश्यक समझा होगा कि मैं अपमान के वेश में आऊँ, इसलिये अपमान के वेश में आये हो। तुमने आवश्यक समझा होगा कि मैं कटुता के वेश में आऊँ, इसलिये कटुता के वेश में आये हो। आइये, आइये। स्वागतम्! वैलकम! आओ आओ, चले आओ।" आप देखेंगे कि वह प्रतिकूलता आपके लिये इतनी उपयोगी सिद्ध होगी कि जिस पर अनेक अनुकूलतायें निछावर की जा सकती हैं। परन्तु भाई मेरे, अगर आप मिले हुए का आदरपूर्वक स्वागत नहीं कर सकते, नित्य-प्राप्त में आत्मीयता नहीं कर सकते, तब कैसे आप व्यर्थ-चिन्तन

से रहित हो सकते हैं? नहीं हो सकते। मेरा यही निवेदन था। व्यर्थ-चिन्तन का एक और भी कारण है। वह क्या है? जो मिला है, वह सुरक्षित बना रहे। यह व्यर्थ-चिन्तन में हेतु है। आप देखिये, हिरण्यकशिपु के चरित्र में देखिये। हिरण्यकशिपु ने बड़ा घोर तप किया। महाराज, आप लोग क्या तप करेंगे। बड़ा भारी तप किया और सोचता क्या है कि दिन में न मरूँ, रात में न मरूँ, अस्त्र से न मरूँ, शस्त्र से न मरूँ, घर में न मरूँ, बाहर न मरूँ, भीतर न मरूँ। जो भी सोच सकता था बुद्धि से, जो-जो मरने की जगहें हो सकती थीं, वहाँ-वहाँ न मरूँ। यानी जो मिला हुआ है, बना रहे। परन्तु उसे नहीं पता था कि घोंटू पर रखे जाओगे लाला, देहरी पर होगे, सन्ध्या काल होगा, न मनुष्य मारेगा, न पशु मारेगा, न अस्त्र होगा, न शस्त्र होगा-नाखून से पेट फाड़ दिया जावेगा। यह है व्यर्थचिन्तन का परिणाम मिला हुआ सुरक्षित बना रहे।

इस प्रकार यदि आप विचार करेंगे, तो आपके जीवन में व्यर्थ चिन्तन क्यों है? इसका आप स्वयं अनुभव करेंगे। इसी बात के लिए मानव-सेवा-संघ की साधन-प्रणाली में जो शान्ति के सम्पादन की प्रेरणा दी जाती है, प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में, केवल इसलिये दी जाती है कि आप अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति से परिचित हो सकें। आप जान सकें कि आप क्या कर चुके हैं। आप जान सकें कि आप क्या करना चाहते हैं। आप जान सकें कि आपकी माँग क्या है। आपकी माँग में अशान्ति नहीं है। आपकी माँग में दुःख नहीं है, आपकी माँग में पराधीनता नहीं है, आपकी माँग में नीरसता नहीं है, आपकी माँग में परिच्छिन्नता नहीं है। आप अपरिच्छिन्न जीवन चाहते हैं, आप शान्ति, स्वाधीनता चाहते हैं। आप चिन्मय-जीवन चाहते हैं। आप नित-नव रस चाहते हैं। यह आपकी माँग है। आपकी माँग कामना-पूर्ति नहीं है। प्रमाण से मालूम होता है कि कामना-पूर्ति हमारे जीवन की माँग नहीं है। क्यों? कामना-पूर्ति काल में भी आप पराधीनता का अनुभव करते हैं। कामना-अपूर्ति काल में भी आप अभाव का अनुभव करते हैं। और विश्व के इतिहास में एक भी उदाहरण आप नहीं देख सकते, जिसमें किसी की भी सभी कामनाएँ पूरी हुई हों। ऐसा भी उदाहरण नहीं दे सकते, जिसमें किसी की सभी कामनाएँ नष्ट हुई हों। अतः जो नहीं है, वह जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता; जो सम्भव नहीं है, वह जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। जो सम्भव है, वही जीवन का लक्ष्य हो सकता है। इस दृष्टि से जब आप विचार करेंगे, तब स्वयं ही, अपने ही द्वारा अपने सम्बन्ध में वह जान सकेंगे, जो जानना चाहिये; वह पा सकेंगे, जो पाना चाहिये; वह कर सकेंगे, जो करना चाहिये। मानव को प्रभु

ने साधननिष्ठ होने ही के लिए बनाया है। साधननिष्ठ होने में आप पराधीन नहीं हैं, असमर्थ नहीं हैं; क्योंकि साधन उसे नहीं कहेंगे, जिसे आप न कर सकें। जिसे आप कर सकेंगे, वही आपका साधन होगा; किन्तु उस साधन की अभिव्यक्ति एक-मात्र सत्संग से ही साध्य है।

माँग की पूर्ति में अपने कर्त्तव्य का पालन अनिवार्य-1

संसार आज बड़ी ही उथल-पुथल दशा में है। परन्तु 'मानव' होने के नाते, अपने में चेतना ला सकता है और अपने सुन्दर जीवन से सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है—ऐसा मेरा बिश्वास है। मानव आज अपने महत्त्व को भूल गया है। उसने अपना मूल्याकंन वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के आधार पर कर लिया है। यह मानव की अपनी बनाई हुई भूल है। मानव-जीवन की दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति, वह चाहे जैसी भी हो, साधन-सामग्री है, साध्य नहीं। साधन-सामग्री के सदुपयोग से उसे शान्ति उपलब्ध होती है। अत: परिस्थितियों से भयभीत होना, अधीर होना, घबड़ाना एवं उसे साध्य मान लेना अपनी भूल ही है। अत: जो परिस्थिति आज हमारे आपके सामने मौजूद है, उसका भी सदुपयोग हो सकता है तथा उसके सदुपयोग से मानव को मानवता मिल सकती है। विश्व-शान्ति का प्रश्न, व्यक्तिगत-शान्ति का प्रश्न, पारस्परिक-विश्वास और स्नेह का प्रश्न हल हो सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि सजग होकर हम अपनी चेतना को अपनायें। हमारी चेतना क्या है? कुछ लोग सोचते रहे—कोई युगपुरुष आकर अवतार लेगा, तो संसार ठीक हो जायगा। कुछ लोग सोचते रहते कि अच्छा गुरु मिल जायगा, तो संसार ठीक हो जायगा। कुछ लोग यह सोचते रहे कि संस्कार अच्छे होने पर संसार अच्छा हो जायगा। परन्तु आप और हम क्या यह नहीं जानते कि युग-पुरुष की तो कौन कहे, हम भारतीयों के विश्वास के अनुसार तो पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द भी अवतार लेकर आया और उसने सुधार किया। किन्तु सतयुग से त्रेता आ गया और त्रेता में सुधार किया, तो द्वापर आ गया और द्वापर में सुधार किया, तो कलियुग आ गया। इससे क्या सिद्ध होता है? मानव-समाज में ऐसे बहुत से महापुरुष आये, जिनमें से एक-एक के पीछे करोड़ों आदमी चलते हैं तथा उन्हीं का लेबिल लगाये बैठे हैं—बुद्ध, ईसा, जैन, महावीर आदि-आदि अनेक महापुरुष आये। फिर भी समाज की दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती ही चली गई। इसके मूल में कारण

क्या है? इस पर विचार करने से ऐसा लगता है कि मानव जब तक अपने करने वाली बात को नहीं मानेगा, तब तक जो उसकी माँग है, उसकी पूर्ति नहीं होगी।

अपने करने वाली बात कौन-सी है? अपने करने वाली बात वह नहीं हो सकती, मेरे भाई, जिसे हम कर नहीं सकते। ऐसा कोई विधान ही नहीं है। किसी से यह कह दिया जाय कि तुम यह करो जिसे तुम कर नहीं सकते। इस वास्तविकता पर अच्छी तरह से विचार करना चाहिये कि हमारे करने वाली बात वही हो सकती है जिसे हम कर सकते हैं और वही हमारे जीवन का सत्य हो सकता है। अब आप सोचिये कि आज तक किसी भाई या बहिन ने कभी यह नहीं सोचा कि दूसरे लोग मेरे साथ बुराई करें। यह कभी किसी को पसन्द भी नहीं। हम सभी नापसन्द करते हैं कि कोई मेरे साथ बुराई करे। लेकिन कितने आश्चर्य की बात है कि इस सत्य को समझते हुए भी स्वयं दूसरों के साथ बुराई कर बैठते हैं और हम ऐसा इसलिये करते हैं कि हमने प्राकृतिक विधान को भुला दिया है, उस पर ध्यान ही नहीं दिया। प्राकृतिक विधान यह है कि दूसरों के साथ हम जो कुछ भी करेंगे, वह कालान्तर में अनेकगुणा होकर अपने साथ होगा। इस विधान का यदि हम आदर करें, तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। भाई! अगर दूसरों को हानि पहुँचायें, तो हमारी हानि हो जायगी। दूसरों का अनादर करें, तो हमारा अनादर हो जायगा। इसलिये अब हम लोगों को यह बात मान लेनी चाहिये कि दूसरों के साथ जैसा हम करेंगे, वैसा ही कई गुणा होकर हमारे साथ होगा। मेरे जानते, बुराई करने की बात ही उत्पन्न नहीं होती। परन्तु हम सत्य को भूल जाते हैं और ऐसा सोचने लगते हैं कि दूसरों को हानि पहुँचाकर हमारा लाभ हो सकता है। जैसा अभी हम सुन रहे थे, किसी महापुरुष का विरोध करने पर हमारा सम्मान हो सकता है, प्रतिष्ठा हो सकती है। यह बड़ी भूल है। मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि विरोध बुराई का होगा या किसी व्यक्ति का विरोध होगा? और बुराई भूल से उत्पन्न होती है या वह प्राकृतिक पदार्थ है? तो, विरोध भूल का करना चाहिये, न कि किसी व्यक्ति का। वह भूल चाहे मुझसे हो, चाहे आपसे, या और किसी से। परन्तु हम और आप विरोध भूल का नहीं करते हैं, व्यक्ति का करते हैं। यह बहुत ही गलत है, सही बात नहीं है। आप देखेंगे, कोई ऐसी बुराई है नहीं कि जिसके मूल में करने वाले की अपनी भूल न हो। यह जीवन का सत्य है। और जब तक हम अपनी भूल को नहीं मिटायेंगे, अपने में क्रान्ति नहीं ला सकते। अप्राप्त परिस्थितियों का आह्वान करते रहेंगे, प्राप्त परिस्थिति का दुरुपयोग करते रहेंगे और अपनी

अवनति का कारण दूसरों को मानते रहेंगे। जब तक यह दशा है, तब तक सही राह पर कभी नहीं जा सकेंगे।

मानव-दर्शन का अर्थ है कि हे मानव! तुम्हारे दु:ख का कारण दूसरा नहीं हो सकता। यदि हमारे दु:ख को मिटाने का दूसरा कोई कारण हो, तो दु:ख मिटाने का प्रश्न ही जीवन में नहीं रहता। और मिटाने की माँग, दु:ख मिटाने की समस्या, दु:ख मिटाने का प्रयास प्रत्येक भाई और बहिन के जीवन में, किसी न किसी रूप में, चलता ही रहता है। इससे यह सिद्ध होता है मेरे भाई, कि अपने दु:ख का कारण किसी दूसरे को न मानकर अपने को ही मान लेते, तो हमारा दु:ख मिट जाता और जब जीवन में दु:ख नहीं रहता, तो समाज का भला हो जाता। समाज का भला दु:खमय जीवन से नहीं होता। परन्तु आप देखिये, दशा आज यह हो गई है कि लोग इस प्रकार से सोचते हैं कि हमारे पास जब सम्पत्ति होगी, तब हमारा भला होगा। और जिसके पास सम्पत्ति दिखाई पड़ती है, उसकी निन्दा करते हैं और यह नहीं सोचते कि जिस सम्पत्ति ने उन्हें निन्दनीय बना दिया है, क्या वह सम्पत्ति हमें निन्दनीय नहीं बना देगी? सोचिये, सम्पत्ति जिसके पास है, उसकी तो आप निन्दा करते हैं और सम्पत्ति की आराधना करते हैं। ऐसा भी सोचते हैं कि जब यह सम्पत्ति उसके पास नहीं होगी, तो समाज का दु:ख मिट जायगा। तो भाई, तुम्हारे पास सम्पत्ति नहीं है, फिर तुम्हारा दु:ख क्यों नहीं मिटा? मैं यह निवेदन कर रहा था कि पराधीनता के साथ तुम्हारी, हमारी या किसी की भलाई नहीं हो सकती। और स्वाधीनता उसे नहीं कहते, जो किसी पराश्रय के द्वारा प्राप्त हो। स्वाधीनता-प्राप्ति का साधन 'पर' नहीं हो सकता, पराश्रय नहीं हो सकता। वह स्वाधीनता 'पर' के द्वारा नहीं मिल सकती, वह तो स्वयं के द्वारा प्राप्त हो सकती है, परन्तु आज हम इस सत्य को भूल गये और सोचने लगे—मैंने स्वयं भी कभी इसी प्रकार सोचा था—कि जब परिस्थिति बदल जायगी, तब हम और हमारा देश सुन्दर हो जायगा, हम और हमारा समाज सुन्दर हो जायगा। परन्तु परिस्थिति के बदल जाने पर भी हम और हमारा समाज तो सुन्दर नहीं हुआ। जो आज नहीं है, आगे यदि वह मिल जायगा, तो हमारा दु:ख मिट जायगा। लेकिन जो आज है, उसे हम पसन्द नहीं करते, और जो नहीं है, उसका चिन्तन करते हैं। परन्तु भाई, जो आज नहीं है, वह फिर भी तो नहीं मिलेगा। इसलिये परमेश्वर ने कहा कि हे मानव! तुम स्वयं के द्वारा ही स्वाधीन हो सकते हो, तुम स्वयं ही जीवन को पा सकते हो, तुम्हें अपने जीवन को पाने के लिये 'पर' की अपेक्षा नहीं है। हाँ, तो तुम्हारे पास जो तुमसे भिन्न है, जो तुम्हारा नहीं है, उसके द्वारा तुम उनकी सेवा करो, जिन्हें

तुम किसी न किसी रूप में अपने से अलग अनुभव करते हो, यानी तुम उसके द्वारा, जो कभी नहीं था और कभी नहीं होगा, अर्थात् जो तुमसे भिन्न है, उसके द्वारा तुम दूसरों की सेवा करो। देखिये, इसमें आपको कोई कठिनाई नहीं है, इसमें किसी पर आपका कोई अहसान भी नहीं है। यह शरीर जो आपके सामने बोल रहा है, एक दिन ऐसी दशा में था कि मुँह पर बैठी मक्खी भी नहीं उड़ा सकता था। भूख की तकलीफ है, पेट में दर्द है, इसका भी ठीक-ठीक पता नहीं था, अर्थात् अपना कोई भी काम करने या अपनी जरूरत को पूरा करने में पूरी असमर्थता थी। परन्तु उस समय भी समाज की ओर से सभी जरूरतों की पूर्ति हुई और आज जब यह कुछ करने लायक हुआ, तब ऐसा सोचने लगे कि मैं दूसरों के काम क्यों आऊँ? परन्तु मेरे भाई, सोचो तो सही, कि तुम्हारा यह बल यदि तुम्हारे काम आ सकता, तो मैं बड़ी ईमानदारी से कहता कि कभी किसी के काम मत आओ। परन्तु तुम्हारा बल तुम्हारे काम आ नहीं सकता और उसके द्वारा तुम दूसरों की सेवा करोगे नहीं, तो उसके दुरुपयोग से तुम अपना और दूसरों का विनाश ही करोगे। विनाश का मूल निर्बलता नहीं है, उसका मूल बल की कमी नहीं है, विनाश का मूल है—बल का दुरुपयोग। उसी से विनाश होता है। और बल का दुरुपयोग अपने से सबल के प्रति भी नहीं होता, वरन् अपने से निर्बल के प्रति होता है। बल का जो उपयोग है, उसे आप अपने से सबल पर नहीं कर सकते, अपने से निर्बल पर ही करते हैं। इसका तात्पर्य यही निकला न, कि निर्बलों को क्षति पहुँचाने से अपना विनाश होता है। इस प्राकृतिक विधान को आप किसी प्रकार बदल नहीं सकते। निगाह फैलाकर देखिये कि जो व्यक्ति सबल मालूम होते हैं, उनकी ओर गौर करके देखिये, क्या वे उस बल के अधीन होकर अभय हैं, शान्त हैं, स्वाधीन हैं? आप नहीं कह सकते, न कोई इतिहासकार कह सकता है कि बल के द्वारा कभी कोई अपने को स्वाधीन रख सका या रख सकता है। यह बहुत गम्भीर और विचारणीय बात है। आम तौर पर ऐसा लगता है कि हमारे पास बल होगा, तो हम स्वाधीन हो जायेंगे, सुरक्षित हो जायेंगे। परन्तु बात इससे उल्टी है, और वह उल्टी इसलिये है कि बल के द्वारा जब निर्बलों की सेवा होती है, तब व्यक्ति बल की दासता से रहित होकर स्वाधीन हो जाता है। धन के द्वारा जब निर्धनों की सेवा होती है, तब वह धन की दासता से मुक्त होकर स्वाधीन हो जाता है। योग्यता के द्वारा जब अयोग्य की सेवा होती है, तब वह योग्यता के अभिमान से शून्य होकर स्वाधीन होता है। बल से, वस्तु से, योग्यता से, कोई स्वाधीन नहीं होता, हो सकता नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं। यह एक ऐसा सत्य है कि जिसे कोई भी

विचारशील मानव मानने से इन्कार नहीं कर सकता। अब आप सोचिये, बल, अल्प हो या विशेष, वह दूसरों के लिये ही है, उसके द्वारा दूसरों के काम आओ। जीवन के इस सत्य को अपनाये बिना कोई उदार हो सकता है क्या? अपने को दूसरों के काम में लगाये बिना, क्या कोई उदार हो सकता है? नहीं हो सकता। तो, जो उदार नहीं हो सकता, क्या संसार उसका मुँह देखना चाहता है? बताइये? नहीं देखना चाहता। अच्छा, संसार में आप आदरपूर्वक रहना चाहते हैं और बिना उदार हुये आदरपूर्वक रहना चाहते हैं, तो ऐसा सम्भव होगा क्या? विचार करने पर मानना होगा कि ऐसा सम्भव नहीं है। अब उदार होने में आपको कठिनाई क्या मालूम होती है? आप कहेंगे कि हमारे पास बल कम है, इसलिये नहीं कर सकते। परन्तु ईमानदारी से देखो तो सही, कि क्या तुम्हें अपने से कोई कमजोर नहीं दीखता? विचार करो, भला, अगर बल कम है, तब क्या वह सबसे कम बल है? क्या आपको अपने से कोई बलहीन नहीं दिखाई देता? और, क्या सभी प्रकार की निर्बलता है आपमें? मान लें कि धन का अभाव है, तो क्या तन का बल है कि नहीं? यदि तन कमजोर है, तो योग्यता मौजूद है कि नहीं? योग्यता कम है, तो क्या ज्ञान का बल है कि नहीं? जरा सोचिये तो सही, आपके पास जो सामग्री है, कोई-न-कोई ऐसी अवश्य है कि जिसके द्वारा, यदि आप चाहें, तो दूसरों के काम आ सकते हैं। एक बात। दूसरी बात यह कि यदि आप किसी के काम नहीं आ सकते, ऐसा भी मान लें—यद्यपि ऐसी बात है नहीं। जब आप किसी के काम नहीं आ सकते, तो सरकार! जीवन में किसी को हानि न पहुँचाने का व्रत भी नहीं रख सकते क्या?

अरे भाई, जो कुछ नहीं कर सकता, वह किसी दूसरे को किसी प्रकार की हानि भी तो नहीं पहुँचा सकता। आप देखिये, मनमाने ढंग से जो किसी को सचुमुच हानि नहीं पहुँचाता, संसार कम से कम उसका विरोध तो नहीं करता। और, यह भी देख लीजिये कि जो दूसरों के काम आता है, संसार उसका आदर करता ही है। और, काम नहीं आता तथा हानि पहँचाता है, उसका संसार विरोध करता है। अब आप गौर कर लीजिये कि ऐसे व्यक्ति का संसार विरोध करता है कि नहीं? अगर विरोध करता है—आपका परिवार, आपका समाज—तो वह तभी करता है कि जब आप परिवार या समाज को किसी-न-किसी रूप में क्षति पहुँचाते हैं। नहीं तो, कभी कोई विरोध नहीं करता। और अगर उनके काम आते हैं, तो वे पूजा करते हैं। हमारा कोई विरोध भी न हो अथवा हमें समाज या परिवार पसन्द करे, तो स्वयं बुराई-रहित हुये बिना, उदार हुये बिना, ऐसा कभी सम्भव नहीं है। आप

किसी भी मज़हब के क्यों न हों, किसी इज्म़ के क्यों न हों, किसी वर्ग के क्यों न हों, किसी देश के क्यों न हों, इस सार्वभौम सत्य का क्या कभी कोई अनादर कर सकता है? अत: विरोधी सत्ता का नाश होना क्या उस समय तक सम्भव है कि जब तक हम किसी को भी किसी भी रूप में हानि पहुँचाने का व्रत न ले लें? और, किसी के काम आये बिना, अनुकूल परिस्थिति का निर्माण असम्भव है। यह जीवन का सत्य है, यह मनुष्यमात्र का सत्य है। यह प्रत्येक भाई और बहिन का सत्य है। जो सत्य नहीं बोल सकता, वह बल के अभाव में झूठ भी तो नहीं बोल सकता। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि बुराई करते समय बल कहाँ से आ गया, योग्यता कहाँ से आ गई, वस्तु कहाँ से आ गई? और किसी वस्तु, योग्यता अथवा बल का आश्रय लिये बिना, क्या कोई बुराई कर सकता है? अगर जीवन में बुराई है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि आपमें बल भी है। अत; आप जिस बल का व्यय बुराई करने में करते हैं, उसी का सदुपयोग क्या भलाई में नहीं कर सकते मेरे भई? अत: इस प्रकार की आशाओं को छोड़ दीजिये कि जब युग-पुरुष आयेगा, पथ-प्रदर्शक आयेगा, कोई महापुरुष आयेगा, तब हम बुराई-रहित हो सकेंगे। ऐसा सोचना भ्रम है। मानव होने के नाते आप स्वाधीन हैं, इस बात का निर्णय लेने में। आपको अपने ही द्वारा अपने में क्रान्ति लानी है।

क्रान्ति का अर्थ है कि अभी तक जो थी सो थी, अब आगे कभी कोई बुराई नहीं करूँगा। यदि आप ऐसा निश्चय करते हैं, तो आपमें क्रान्ति आ जायेगी और यह नियम ही है कि जो बुराई नहीं करता, वह भला हो ही जाता है। और, भला होने से फिर भलाई स्वत: होने लगती है। इसका मतलब हुआ कि जो बुराई नहीं करता वह भला हो जाता है और जो भला हो जाता है, उससे भलाई होने लगती है। और जिससे भलाई होने लगती है, उसको परिवार, समाज, देश सभी पसन्द करते हैं। यह सबसे नीचे स्तर की बात निवेदन कर रहा हूँ; क्योंकि यह विकास यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। उससे आगे होने वाली बात यह है जब आप होने वाली भलाई का फल तथा अभिमान विचारपूर्वक छोड़ देते हैं, तो आप स्वाधीन हो जाते हैं, बुराई करते नहीं, भलाई का फल चाहते नहीं और अभिमान करते नहीं, तो हो गये स्वाधीन।

इस प्रकार जब आप स्वाधीन हो गये, तब सोचिये, आप ही युग-पुरुष हैं, महापुरुष हैं, और आप ही पथ-प्रदर्शक हैं। इस प्रकार इतने बड़े महान् फल को प्राप्त करने के लिये मानव-सेवा-संघ की प्रणाली के अनुसार केवल

जीवन के सत्य को स्वीकार करना है और साधना स्वत: होने लगती है। सत्य की स्वीकृति से साधना की अभिव्यक्ति हो जाती है।

तो, जब आपने बुराई-रहित हो, अपने सत्य को स्वीकार कर लिया, तो भले हो गये। और भलाई का फल तथा अभिमान छोड़ दिया, तो स्वाधीन हो गये। यह सर्वथा स्वाभाविक बात है। और जब आप स्वाधीन हो गये, अर्थात् आपमें स्वाधीनता आ गई, तो उसके साथ दो चीजें सदैव रहती हैं—एक उदारता और दूसरी प्रियता। अर्थात् उदारता तथा प्रेम, स्वाधीनता के साथ सदैव रहते ही हैं। जैसे, पराधीन होने पर मनुष्य बिना अनुदार हुये रहता ही नहीं और प्रेम का उलटा द्वेष कहें, भिन्नता कहें—इनका होना स्वाभाविक ही है। अत: संकीर्णता तथा भिन्नता पराधीन जीवन में रहती ही हैं। यदि जीवन में पराधीनता न रहे, तो न संकीर्णता आती है और न भिन्नता ही भिन्नता तथा द्वेष एक ही बात है।

संकीर्णता का परिचय देना चाहता हूँ। परन्तु इसकी व्याख्या करने में बहुत समय अपेक्षित है। अत: जो भाई-बहिन समझना चाहें, व्यक्तिगत रूप से मुझसे मिलकर ऐसा कर लें। व्याख्यान तो केवल वक्ता का परिचय मात्र होता है। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि पराधीन जीवन में संकीर्णता तथा भिन्नता का होना अनिवार्य है। कोई भी हो, कितना ही योग्य हो, कितना ही बलवान हो, कितना ही सम्पत्तिशाली हो, बड़े से बड़े ऊँचे पद पर आसीन हो—इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। पराधीन होने पर भिन्नता और संकीर्णता रहेगी ही। क्यों रहेगी? पराधीन है, यों। यह जीवन का सत्य है। महानुभाव! इस पर गम्भीरता से विचार करें। चाहे कोई मामूली मजदूर हो, चाहे मुझ जैसा भिखारी हो, जिसे पेटभर रोटी और जिसके पास आवश्यक कपड़े भी न हों, माना इस तरह का बाहरी अभाव क्यों न हो; लेकिन यदि वह स्वाधीन है, तो उसमें उदारता और प्रेम की अभिव्यक्ति होगी ही। जैसे पराधीन होने पर संकीर्णता आ जाती है, भिन्नता आ जाती है, वैसे ही स्वाधीन होने पर जीवन में उदारता और प्रेम का प्रादुर्भाव अवश्य हो जाता है।

विश्वास की सजीवता

विश्वास का सदुपयोग परमात्मा को स्वीकार करने में है और ज्ञान का उपयोग संसार से विमुख होने में है। यह जीवन का सत्य है। विश्वासी साधक की कामनाओं की पूर्ति और निवृति स्वत: होती रहती है। उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। कारण कि विश्वासी की दृष्टि में अन्य विश्वास की गंध भी नहीं

रहती। अन्य विश्वास का अभाव होते ही अन्य सम्बन्ध शेष नहीं रहता। अन्य सम्बन्ध का नाश होते ही आत्मीय सम्बन्ध सजीव हो जाता है, जिसके होते ही स्मृति तथा प्रियता उदय होती है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है। साधक के जीवन में ममता तथा कामना के लिये कोई स्थान ही नहीं है। सेवा तथा विचार द्वारा ममता एवं कामना के नाश का अथक प्रयास करना अनिवार्य है। तभी अनन्त की आत्मीयता सजीव होगी। इस कारण सब प्रभु का है—इस सत्य को स्वीकार कर, केवल प्रभु ही अपने हैं, इस वास्तविकता को अपनाना होगा। सभी को प्रभु का मानना, प्रभु-विश्वासी का सहज स्वभाव होता है। प्रभु अपने होने से प्रिय हैं और सृष्टि भी प्रभु की होने से प्रिय है। प्रियता से भिन्न शरणागत का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। प्रियता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों दृष्टि में प्रीतम ही प्रीतम रह जाता है। प्रीतम से भिन्न की स्थिति ही नहीं है-यह सत्यप्रियता की जागृति से ही सिद्ध होता है। प्रीति साधक का स्वरूप है। प्रीति से ही प्रीतम को रस मिलता है। प्रीति प्रीतम की ही महिमा है। शरणागत साधक प्रीतम की महिमा से अभिन्न हो जाता है। यह प्रेमास्पद का मंगलमय विधान है।

आत्म-ख्याति तथा लोकरंजन की रुचि होने पर सृष्टि की ओर से आदर तथा सम्मान आता है; पर सजग शरणागत उसे स्वीकार नहीं करता। उसके शरण्य उस घाटी से उसे बड़ी सुगमतापूर्वक पार कर देते हैं। शरण्य की महिमा में अविचल आस्था के अतिरिक्त शरणागत का और कोई प्रयास नहीं है। जिनकी महिमा का वारापार नहीं है, वे सभी के अपने हैं। अपने का अपनापन स्वीकार करना ही शरणागत का अंतिम प्रयास है। शरणागत की छिपी हुई सुख-लोलुपता को महामहिम पूरा भी करते हैं और भयंकर दु:ख के रूप में अभिव्यक्त होकर उसका नाश भी करते हैं। अत: उनका हो जाना ही सब प्रकार से मंगलकारी है। जब महामहिम दु:ख के रूप में प्रकट होते हैं, तब शरणागत को दु:ख में भी एक अपूर्व रस देते हैं। कभी-कभी शरणागत उनकी दी हुई कलाकृति तथा विभूतियों का भोग करने लगता है, तब उसका विकास रुक जाता है।

परन्तु शरणागत-भयहारी प्रभु अपनी अनुपम लीलाओं को दिखाकर साधक को उस बंधन से मुक्त कर देते हैं। इतना ही नहीं, शरणागत की सभी समस्याएँ हल करना शरण्य का सहज स्वभाव है। शरणागत को अपने में अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध की गंध भी नहीं रखनी चाहिये और महामहिम की महिमा में अविचल आस्था रहनी चाहिये। जिसने उनकी अलौकिक, अद्वितीय, अनन्त महिमा को स्वीकार किया, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक उनके

प्रेम को पाकर कृतकृत्य हो गया। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है, कारण कि प्रेम से ही प्रेमास्पद को नित-नव रस मिलता है। क्या कहा जाय ! प्रेमास्पद भी प्रेमी होकर प्रेम का रस प्रदान करते हैं। यह प्रेमास्पद की महिमा है।

सत्संग—1

पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा हम अपने जाने हुए असत्य का त्याग करने का प्रयत्न करते हैं। अब यह विचार करना है कि जब हम असत्य को 'असत्य' जान भी लेते हैं, फिर भी उसका त्याग नहीं कर पाते, तो हम किस प्रकार सत्संग करें? यह प्रश्न जब आपके जीवन में उत्पन्न हो, तब सबसे पहला पुरुषार्थ यह करें कि जिस सत्य की आपने सत्ता स्वीकार की है, उस सत्य में अविचल श्रद्धा हो, अर्थात् यह न सोचें कि सत्य जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, अपितु यह स्वीकार करें कि सत्य तो सर्वदा है, वह हमसे विमुख नहीं हुआ है, हमसे दूर नहीं हुआ है। हम स्वयं ही सत्य से विमुख हो गये हैं, दूर हो गये हैं। ऐसी बात स्वीकार करने मात्र से हमारे और आपके जीवन में एक नवीन उपाय का आरम्भ होगा; और वह यह होगा कि जो सत्य सर्वकाल में है, सर्वदेश में है, जिससे देश और काल की दूरी नहीं है, उस सत्य की प्राप्ति का उपाय श्रम-रहित जीवन हो सकता है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि भाई, श्रम-रहित होने का तरीका क्या है? हम कैसे श्रम-रहित हो सकते हैं? तो उसके लिए तीन प्रकार के तरीके हैं—पहला तरीका यह है कि जो वर्तमान कार्य आपके सामने मौजूद है, जिसको करने के साधन भी प्राप्त हैं, जिसको बिना किये आप रह भी नहीं सकते, उस कार्य को सुन्दरतापूर्वक, पूरी शक्ति लगाकर, पवित्रभाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, फल की आशा से रहित और कर्तृत्व के अभिमान से रहित होकर पूरा कीजिये। उस कार्य का और उस कार्य के अन्त में किसी कार्य का चिन्तन मत कीजिए, अपितु शान्ति में निवास कीजिये और विश्राम कीजिये। जब हम कार्य के अन्त में किसी कार्य का चिन्तन नहीं करेंगे, विश्राम करेंगे, तब आप सच मानिये, जो सत्य देश-काल की दूरी से रहित था, उस सत्य से हमारी अपने-आप अभिन्नता हो जायेगी। एक बात बहुत विचारणीय है। वह यह है कि भाई, सत्य क्या कोई वैज्ञानिक आविष्कार है? यदि ऐसा है, तो वह आज है, कल नहीं रहेगा अथवा बदल जायगा। यदि सत्य कोई उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु है, तो वह आज है, कल नहीं रहेगा। तब हम फिर उसी स्थिति में आ जायेंगे, जिसमें सत्य की प्राप्ति से पूर्व थे। इसलिए भाई, सत्य तो कोई ऐसा अलौकिक तत्त्व

होना चाहिए कि जिसमें उत्पत्ति-विनाश का दोष न हो और जिससे देश-काल की दूरी न हो। तो जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, जो उत्पत्ति विनाशयुक्त नहीं है, उसकी अप्राप्ति क्यों है? कहना पड़ेगा कि उसमें प्रीति न होने से, उसमें सन्तुष्ट न रहने से। देखिये, कितने आश्चर्य की बात है और कितनी विचारणीय यह बात है कि जिससे दूरी हो ही नहीं सकती, भेद हो ही नहीं सकता, उससे आज हम परिचित नहीं हैं, विमुख हैं और दूर हैं; यानी जिससे दूरी नहीं हो सकती, उससे दूर हैं, जिससे विमुख नहीं हो सकते, उससे विमुख हैं, जिससे भेद नहीं हो सकता, उससे भेद है। और जिससे कभी एकता हो ही नहीं सकती, उसके सम्बन्ध में सोचते हैं कि मानों हमको वह प्राप्त है। तात्पर्य क्या निकला? आज हमें जो वास्तव में प्राप्त है, वह अप्राप्त प्रतीत होता है; और जो अप्राप्त है, वह प्राप्त जैसे प्रतीत होता है। आप कहेंगे, कैसे? भाई, जब प्राणी प्रतीति को और प्रवृत्ति को प्राप्ति का रूप दे देता है, तब उसे अप्राप्त प्राप्त मालूम होता है और प्राप्त अप्राप्त मालूम होता है। इसलिए, प्रत्येक कार्य के अन्त में, यदि प्रवृत्ति 'निवृत्ति' में बदल जाये और प्रतीति से विमुखता हो जाये, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक जो प्राप्त है या तो उससे योग हो जायेगा या उसका बोध हो जायेगा या उसमें प्रेम हो जायेगा। तो प्राप्त का योग, प्राप्त का बोध, प्राप्त का प्रेम, ये क्या हैं? यह भी एक सत्संग है। इस सत्संग का नाम मानव-सेवा-संघ ने मूक-सत्संग रखा है। इसलिए मानव-मात्र के लिए, चाहे मानव किसी मत का हो, किसी दल का हो, किसी सम्प्रदाय का हो, किसी देश का हो, कैसा ही मानव हो, उसके लिए पहला साधन यह है कि वह उस कार्य को सुन्दर से सुन्दर ढंग से कर डाले और उस कार्य के अन्त में किसी प्रकार के फल की आशा न रखे अथवा किसी अनावश्यक कार्य का चिन्तन न करे। ऐसा करने से वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस सत्य से अभिन्न हो सकता है, जो उसका अपना सत्य है। भाई, अब आप यदि यह कहें कि इससे तो यह पता चला कि प्राप्त सत्य से अभिन्न होने के लिए आवश्यक कार्य को करने के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं। बात ठीक है। परन्तु भाई, यदि कार्य के अन्त में कार्य का चिन्तन होता है, तो क्या करें? भाई, उसके लिए आपको चाह-रहित होना पड़ेगा। आप कहेंगे, चाह-रहित कैसे होंगे? तो प्राणी चाह-रहित किसी अभ्यास से नहीं होता। बहुत गम्भीरता से इस बात पर ध्यान दीजिये कि चाह रहते कोई भाई कहे कि हम चुप रहकर बोलने की चाह से रहित हो जायेंगे तो ऐसा नहीं हो सकता। कोई कहे कि हम एकान्त में रहकर भी संगठन के बाजार में रहने की चाह से रहित हो जायेंगे तो नहीं हो सकता। चाह-रहित

होने का उपाय यह है कि हम चाह के उदग्म स्थान का पता लगायें। हमें यह पता लगाना पड़ेगा कि हमारे जीवन में जो कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, जो इच्छायें उत्पन्न होती हैं, उनका उद्गम स्थान क्या है? भाई, समस्त कामनाओं का उद्गम स्थान है, अविवेक। अविवेक क्या है? अविवेक है, विवेक का अनादर। न जानने का नाम अविवेक नहीं है। अविवेक है, जाने हुए का अनादर, यानी जानते तो हैं, पर भाई, मानेंगे नहीं। भाई, जब जानते हो, तो क्यों नहीं मानोगे? क्या बतायें, नहीं मानेंगे। इसका नाम है, अविवेक। और आप जानते हैं कि जाने हुए को न मानने में जो अविवेक है, उसका कोई अस्तित्व नहीं है; क्योंकि असत्य का अस्तित्व होता ही नहीं। तो होता क्या है? सत्य की विमुखता के कारण सत्य की सत्ता से ही असत्य प्रकाशित होने लगता है और साधारण व्यक्ति उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं। तो जिन दर्शनकारों ने अज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार किया, अविवेक के अस्तित्व को स्वीकार किया, उसका अर्थ क्या यह है कि वास्तव में अविवेक का कोई अस्तित्व है, अज्ञान का कोई अस्तित्व है? नहीं, अज्ञान का अस्तित्व नहीं है। किन्तु ज्ञान की न्यूनता अथवा ज्ञान का अनादर है, उसी को अज्ञान के नाम से हम लोग कहने लगते हैं। तात्पर्य यह निकला कि अविवेक का वास्तविक अस्तित्व नहीं है; और जिसका अस्तित्व नहीं है, उसकी निवृत्ति हो सकती है। कैसे निवृत्ति हो सकती है? उसकी अस्वीकृति से। अस्वीकृति कैसे हो सकती है? विवेक के आदर से। विवेक के आदर द्वारा यदि हम अविवेक की सत्ता को अस्वीकार कर दें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक हम सब अपने-आप सभी कामनाओं से रहित हो सकते हैं, चाह से रहित हो सकते हैं। एक बात सोचने की है-सत्य उसे कहते हैं, जिसकी प्राप्ति में सभी समर्थ हों। सत्य उसे नहीं कह सकते, जो हिन्दुस्तानियों को मिले और यूरोप वालों को न मिले, या यूरोप वालों को मिले और हिन्दुस्तानियों को न मिले। अगर भाई, मैं यहाँ तक कह दूँ कि वास्तव में सत्य भौतिकवादी और अध्यात्मवादी का भी एक है, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी का भी एक है, तो इसमें लेशमात्र संदेह की बात नहीं। समस्त सम्प्रदायों का सत्य एक है, समस्त दलों का सत्य एक है। लेकिन कौन-सा सत्य, भाई? वह सत्य कि जिसकी प्राप्ति असत्य की कामनाओं का अभाव होने पर होती है। कामना-पूर्ति वाला सत्य तो दो व्यक्तियों का भी एक नहीं हो सकता। गम्भीरतापूर्वक सोचिये कि जो लोग कामना-पूर्ति को ही सत्य मान लें, वह तो दो व्यक्तियों का भी एक नहीं है। लेकिन कामना-निवृत्ति द्वारा जो भी प्राप्त होने वाला सत्य है या जो सत्य, कामनाओं से अतीत है, समस्त परिस्थितियों से अतीत है, समस्त अवस्थाओं

से अतीत है, वह सत्य सबका एक है। उस सत्य के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। इसलिए भाई, यदि आप अविवेक का अन्त कर, चाह-रहित हो जायेंगे, तो बड़ी सुगमता से उसी सत्य को प्राप्त कर लेंगे, जिस सत्य से, कार्य के अन्त में कार्य का चिन्तन न करने पर, आपका जिस सत्य से योग हुआ था, जिस सत्य का बोध हुआ था, जिस सत्य से प्रेम हुआ था, उसी सत्य की प्राप्ति चाह-रहित होने पर ही अपने-आप हो जायेगी। अब आप सोचिये, जब सत्य की उपलब्धि के लिए चाह मात्र भी, कामना मात्र भी, एक श्रम है, वह सत्य कितना नाजुक होगा, कितना कोमल होगा, कितना सूक्ष्म होगा, कितना विभु होगा, कितना अनन्त होगा! इतना नाजुक, इतना कोमल कि उसकी चाह करो कि छिन्न-भिन्न हो जाये। जैसे, किसी ने कहा कि भाई, हमारे प्यारे के चरण इतने कोमल हैं कि ध्यान करो, तो दुख जायें और इतने समर्थ हैं कि जिनका ध्यान कर लो, तो दुःख चला जाये, यानी बड़े समर्थ और बड़े कोमल हैं। बस यही बात, मेरे भाई, सत्य के विषय में भी है। सत्य आपके इतना समीप है कि अगर आप यह कहें कि उससे ज्यादा हमारे समीप कुछ नहीं है, तो यह कहने में भी हमें कोई आपत्ति नहीं। वास्तविक सत्य तो तुमसे भी अधिक तुम्हारे समीप है। आप कहेंगे कि यह क्या पागलपन की बात नहीं है? क्या हमसे भी कोई हमारे समीप हो सकता है? जरा गहराई से सोचो, गम्भीरता से सोचो, अहं-स्मृति, "मैं हूँ," यह जो भास होता है, इसमें भी, मेरे भाई, परिश्रम है। अहं-स्मृति में भी कोई श्रम है। और सत्य की अनुभूति के लिए श्रम अपेक्षित नहीं है। तो सत्य कितना समीप हुआ, जिसे आप अपने से भी अधिक अपने समीप पाते हैं? तो आपसे भी अधिक आपका सत्य आपके समीप है। इसलिए, भाई, उस सत्य की उपलब्धि के लिए अहं-स्मृति की आवश्यकता नहीं, तो फिर अहं-कृति का तो गुजर ही कहाँ है? अतः जो लोग यह सोचते हैं कि हमें सत्य नहीं मिल सकता, उनका यह सोचना ही उनको सत्य से विमुख कर देता है। वास्तव में भाई चाह-रहित होने मात्र से आपको-हमको वही सत्य मिल सकता है, जो किसी को भी कभी मिला होगा और किसी को भी मिलेगा। हमसे पहले जिस किसी को भी मिला हो, हमारे बाद भी जिस किसी को मिले, वही सत्य हम सभी को चाह-रहित होने मात्र से मिल सकता है। अब आप बताइये, कि इससे सुगम साधना और क्या होगी? आप सुगमता उसी को न कहते हैं कि हम जो चाहते हैं, वह पूरा हो जाये? अगर हमारी चाह पूरी हो जाती है, तो हम समझते हैं, बड़ा सुगम हो गया। और जो चाह-रहित होने से ही पूर्ति हो जाये-जरा सोचिये, पूर्ति जिसकी चाह-रहित होने मात्र से हो जाये—उससे सुगम और कोई सुगमता की परिभाषा हम नहीं

कर सकते। इस दृष्टि से भी सत्संग के द्वारा चाह-रहित होने के द्वारा हम बड़ी सुगमता से उस सत्य को प्राप्त कर सकते हैं।

सत्संग—2

अब यदि कोई दूसरा व्यक्ति यह कहे कि यह बात तो ठीक समझ में आती है कि यदि हम विवेक का आदर करें, तो अविवेक का नाश हो जायगा और अविवेक का नाश होने से चाह के उद्‌गम स्थान का नाश हो जायगा और चाह के उद्‌गम स्थान के नाश हो जाने से हम स्वभाव से ही अपने आप ही में अपने अनन्त सत्य को प्राप्त कर लेंगे। लेकिन यदि कोई यह कहे कि हमारे लिये तो विवेक का आदर करना जरा कठिन मालूम होता है। तब हम उससे यह पूछेंगे कि भाई, जब तुम अपने विवेक का आदर नहीं कर सकते, तो जिस सत्य की आपको खोज है, जिस सत्य की आपको लालसा है, जिस सत्य की आपको जिज्ञासा है, क्या उस सत्य पर विकल्परहित विश्वास कर सकते हो? सरल विश्वास कर सकते हो? यदि आप कहें, "हाँ भाई, जिसकी हमें खोज है, उस पर हम विश्वास तो कर सकते हैं। यह हम कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि सत्य नहीं है। सत्य है, यही न सत्य का विश्वास है?" यदि आपसे कोई यह कहे, "नहीं, नहीं, हमें आप यह बताइये कि किस प्रमाण से आप यह कहते हैं कि सत्य है?" तब भी आपको यही कहना है कि भाई, अगर कोई भी प्रमाण उसका न हो, तब भी हम जानते हैं कि सत्य है। यदि वह कहे किस उदाहरण से? तब भी आप कहें कि भाई, यदि उसके लिए कोई भी उदाहरण नहीं, तो भी हम मानते हैं कि सत्य है। तब हम कहेंगे कि भाई, यदि तुम विवेक का आदर नहीं कर सकते, अविवेक का अन्त नहीं कर सकते, तो इस प्रकार का सरल विश्वास तो कर ही सकते हो? कैसा विश्वास? जैसा अपने बाप पर कर लिया। माँ ने जिसे बता दिया, उसी को अपना बाप मान लिया, कोई आपके पास सबूत नहीं है कि वही आपका बाप है। क्या ऐसा विश्वास आप कर सकते हैं सत्य के प्रति कि सत्य है? यदि आप ऐसा विश्वास कर सकते हैं, तो एक नियम है बड़ा भारी, वह यह कि जिस पर हमारा अविचल विश्वास हो जाता है, विकल्प-रहित विश्वास हो जाता है, सरल विश्वास हो जाता है, उसके समर्पित होने में हमें लेशमात्र भी कठिनाई नहीं होती, संकोच नहीं होता; क्योंकि जिसकी सत्ता को हमने स्वीकार कर लिया, जिस पर हमने विश्वास कर लिया, उसको अपने को दे देने में कठिनाई नहीं होती। तीसरी बात यह भी हो सकती है कि यदि आप वर्तमान कर्त्तव्य अभिनय की दृष्टि से करने में अपने को असमर्थ पाते हैं और सरल

विश्वास करने में अपने को समर्थ पाते हैं, तो सरल विश्वासपूर्वक अपने को उस अनन्त को समर्पित कर दीजिये। समर्पित करने का अर्थ यह होता है कि आप अपने सम्बन्ध में बिलकुल निश्चिन्त हो जाइये कि हमारा क्या होगा। देखो भाई, जब नन्हा सा बालक अपनी माँ की गोद में निश्चिन्त हो जाता है, निर्भय हो जाता है, तो क्या उस अनन्त सत्य की गोद में हम भयभीत बने रहें, चिन्तित बने रहें? हमें लेशमात्र भी चिन्ता और भय नहीं होना चाहिए। आप निश्चिन्त और निर्भय हो जाइये। तो समर्पण के द्वारा भी वही सत्य मिलेगा, जो अविवेक का अन्त होने पर विवेकी को मिलेगा और जो कर्त्तव्य-पालन करने पर कर्त्तव्यनिष्ठ को मिलेगा।

अब ये तीन प्रकार के उपाय हुए—एक उपाय तो यह कि वर्तमान कार्य को इतना सुन्दर, इतना सुन्दर करो कि जिसके करने से, करने का राग ही समाप्त हो जाय तथा उसके द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण हो जाय और वह दूसरे के लिये विधान बन जाय। यह है कर्त्तव्य-पालन की कसौटी—करने के राग की निवृत्ति, सुन्दर समाज का निर्माण और कर्त्ता के जीवन का दूसरों के लिए विधान बन जाना। हमारे जीवन को देख, सब कहने लगें, "कैसे बोलना चाहिये? जैसे अमुक व्यक्ति बोलता है। कैसे सोचना चाहिये? जैसे अमुक व्यक्ति सोचता है। कैसे सुनना चाहिए? जैसे अमुक व्यक्ति सुनता है।" इस प्रकार का विधान बन जाय, हमारा जीवन। यह है कर्त्तव्य-परायणता की पूर्णता। इस कर्त्तव्य-परायणता के द्वारा भी विश्राम मिलता है, चिरशांति मिलती है और विश्राम मिलने से योग होता है, बोध होता है, प्रेम होता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं।

इसी प्रकार वही सत्य विवेकी को विवेकपूर्वक अविवेक का अन्त करते ही मिलता है। आप कहेंगे, कैसे? जरा गम्भीरता से विचार कीजिए, कि जब विवेकपूर्वक अविवेक का अन्त होगा, तब सभी वस्तुओं से, सभी परिस्थितियों से और सभी अवस्थाओं से असंगता प्राप्त होगी, अर्थात् सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। जब सम्बन्ध-विच्छेद हो जायेगा, तब निर्दोषता आ जायगी। विचार कीजिए, यदि वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, तो निर्लोभता आ जायगी। यदि व्यक्ति से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, तो निर्मोहता आ जायगी। यदि परिस्थियों से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, तो अपरिच्छिन्नता आ जायगी। यदि अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ तो चिन्मयता आ जायगी। यह नियम है कि सम्बन्ध-विच्छेद करते ही जड़ता, परिच्छिन्नता, लोभ, मोह आदि समस्त विकारों का अन्त हो जाता है। समस्त विकारों का अन्त होकर निर्विकार जीवन बन जाता है। अब आप सोचिए कि सम्बन्ध-विच्छेद करने में कितनी सुगमता

है, कोई कठिनाई नहीं है। अब यदि कोई यह पूछे कि क्रियात्मक जीवन में सम्बन्ध-विच्छेद का क्या रूप है? तो कहना होगा कि होने वाले कर्म में क्रिया-जनित सुख मत लो और फल की आशा मत करो और होने वाले चिन्तन में रस मत लो और जाने वाली स्थिति में रमण मत करो। लो साहब, असंगता आ गई। जो कर्म हो रहा है, उससे सम्बन्ध नहीं रहा। जो स्थिति है, उससे सम्बन्ध नहीं रहा, अर्थात् यदि अशुभ कर्म की उत्पत्ति न हो, शुभ कर्म के फल की आशा न हो, निरर्थक-चिन्तन की उत्पत्ति न हो, और सार्थक-चिन्तन का रसास्वादन न हो। दूसरे शब्दो में, यदि सविकल्पता की उत्पत्ति न हो और निर्विकल्पता का अभिमान न हो, तो असंगता हो जाय, अर्थात् समस्त अवस्थाओं से असंग होने का नाम ही वास्तव में असंग होना है। आप सोचिये और गम्भीरता से इस पर विचार कीजिये कि वह जीवन कितना ऊँचा जीवन होगा, जहाँ कर्म-मात्र से असंगता! जहाँ चिन्तन-मात्र से असंगता, जहाँ निर्विकल्पता से भी असंगता। उस जीवन की समानता हो सकती है क्या? नहीं हो सकती। समस्त चिन्तन, समस्त कार्य, समस्त वस्तुएँ निर्विकल्पता में विलीन हो जाती हैं, समता में विलीन हो जाती हैं और समता से भी जो असंग है, उसी को असंग कह सकते हैं। जिनसे आपकी ममता नहीं है, उनसे असंगता का कुछ अर्थ नहीं। उनसे तो सभी असंग हैं। जिनकी प्रतीति नहीं है, उनसे असंग होना असंगता नहीं है। जिनकी स्वीकृति नहीं है, उनसे असंग होना असंग होना नहीं है। असंग तो उससे होना है, जिसकी प्रतीति है; असंग उससे होना है, जिससे ममता है; उससे असंग होना है, जिससे सम्बन्ध है और असंग उससे होना है, जिससे हमने तादात्म्य स्वीकार किया था। इस प्रकार का जो विवेक है, वही विचार है। ऐसा विचार तब पैदा होता है, जब हम सचमुच चाह-रहित होना चाहते हैं, सचमुच असत्य से विमुख होना चाहते हैं, असत्य से असंग होना चाहते हैं। इस विचार के द्वारा हम अनन्त काल के असत्य का वर्तमान में त्याग कर सकते हैं। यह है अध्यात्मवादियों का मार्ग। अध्यात्मवादी उसी को कहते हैं कि जिसने परिस्थितियों से, वस्तुओं से, व्यक्तियों से, अवस्थाओं से अपना मूल्य अधिक कर लिया हो। यहाँ से अध्यात्मवाद का आरम्भ होता है और यदि वह सभी से विमुख हो जाय, तो उसकी पूर्णता होती है। इस अध्यात्मवाद की दृष्टि से भी हम सब असंग होकर चाह-रहित हो सकते हैं और चाह-रहित होकर उसी सत्य का अनुभव कर सकते हैं कि जिस सत्य को भौतिकवादी ने, कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी ने कर्त्तव्य के अन्त में अनुभव किया था। अध्यात्मवादी उसी सत्य का अनुभव असंगतापूर्वक कर सकता है।

यहाँ एक बात और समझने की है। आप यह न समझें कि कर्त्तव्यनिष्ठ भौतिकवादी और विवेकनिष्ठ अध्यात्मवादी, इन दोनों में कुछ दूरी रहेगी, कुछ भेद रहेगा। भेद नहीं रहेगा। जो कर्त्तव्यनिष्ठ भौतिकवादी कामना-रहित होगा, श्रम-रहित होगा वह, और जो अध्यात्मवादी असंगतापूर्वक कामना-रहित होगा, श्रम-रहित होगा, इन दोनों में भेद नहीं रहेगा। उस समय कर्त्तव्यनिष्ठ स्वाभाविक रूप से ही अध्यात्मवादी हो जायगा और अध्यात्मवादी स्वाभाविक रूप से ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो जायगा। अन्तर क्रम में है। भौतिकवादी पहले कर्त्तव्य पर निष्ठा-दृष्टि रखता है और फिर वह उससे असंग होता है और अध्यात्मवादी पहले विवेक पर निष्ठा-दृष्टि रखता है, फिर वह कर्त्तव्य-परायण हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्त्तव्यनिष्ठ में असंगता और अध्यात्मवादी में कर्त्तव्य-परायणता अपने आप आ जाती है। उसमें अन्तर यह होगा कि कर्त्तव्यनिष्ठ यह नहीं कहेगा कि मैं असंग हूँ और अध्यात्मवादी यह नहीं कहेगा कि मैं कर्त्तव्यनिष्ठ हूँ, यानी पहले में असंगता का अभिमान नहीं होगा और दूसरे में कर्त्तव्य-परायणता का अभिमान नहीं होगा। दोनों के ही जीवन में निरभिमानता आ जाती है। तो साधनों का भेद होने पर भी प्रीति का भेद नहीं रहता, स्वरूप का भेद नहीं रहता, लक्ष्य का भेद नहीं रहता। इस दृष्टि से प्रत्येक भौतिकवादी के जीवन में अपने आप अध्यात्मवाद आ जाता है और प्रत्येक अध्यात्मवादी के जीवन में स्वभाव से ही भौतिकवाद आ जाता है। इसी आधार पर मानव-सेवा-संघ ने निर्णय किया, "भाई, यह मत सोचो कि एकमात्र निवृत्ति ही सत्य की प्राप्ति का साधन है, न यह सोचो कि एकमात्र प्रवृत्ति ही सत्य की प्राप्ति का साधन है। सत्य की प्राप्ति के तो दोनों साधन हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही सत्य के दो अंग हैं। प्रवृत्ति-द्वारा वर्तमान राग की निवृत्ति होती है और निवृत्ति-द्वारा नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होने पाती। इसलिये दोनों विचार-धाराओं को एक में विलीन करने की पद्धति मानव-सेवा-संघ की पद्धति है।

सत्संग—3

विश्वासी सुने हुए प्रभु में विश्वास कर केवल उन्हीं का हो जाता है। वह प्रीति सत्य से अभिन्न होती है।

विश्वास मार्ग में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों ही ओत-प्रोत हैं। विश्वासमार्गी को यह कहने की आवश्यकता नहीं होती कि संसार नहीं है। वह कहता है कि भाई, संसार भले ही हो, पर हमारा नहीं है, बस। अतः

अध्यात्मवादी का जो सत्य है, उसकी झलक भी विश्वासी के जीवन में रहती है। इसी प्रकार भौतिकवादी की भाँति विश्वासी यह नहीं कहता कि संसार से अतीत कोई सत्य नहीं है। वह तो कहता है कि भाई, यह संसार मेरा नहीं है, और जिसको मैं नहीं जानता हूँ, वह मेरा है। बस, इतनी ही तो बात है। विश्वास-मार्ग का अर्थ है-बिना जाने, किसी को अपना मान लेना और जाने हुए संसार से सम्बन्ध तोड़ लेना। आप कहेंगे कि यह कैसा पागलपन है कि जाने हुए से तो सम्बन्ध तोड़ दिया जाय और जिसको नहीं जानते हैं, उसको मान लिया जाय। कितने साहस की बात है, कितने धीरज की बात है! अगर भौतिकवादी कर्त्तव्यनिष्ठ होता है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि वह संसार को देखता है, संसार के नियमों की खोज करता है और तब कर्त्तव्यनिष्ठ होता है। इसी प्रकार यदि अध्यात्मवादी संसार की सत्ता स्वीकार नहीं करता है, तो कोई आश्चर्य नहीं। वह संदेह की वेदना के द्वारा जिज्ञासा की जागृति करता है और संसार के स्वरूप को जान करके असंग होता है। लेकिन जरा आप विश्वास की दशा तो देखिये, कि जो सामने दिखाई देता है, उसके सम्बन्ध में कहता है कि यह हमारा नहीं है, जैसे, यह हाथ हमारा नहीं है। वह यह नहीं कहता कि हाथ नहीं है, वह इतना ही कहता है कि हमारा नहीं है। मन हमारा नहीं है, बुद्धि हमारी नहीं है। ये सब तो हैं हमारे प्यारे के। यदि उससे पूछें कि तुम्हारा प्यारा कहाँ है? तो वह कहता है कि नहीं जानते। "कैसे मान लिया?" "सुना है।" "किससे सुना है?" "गुरु से या ग्रन्थ से।" कहने का तात्पर्य यह है कि विश्वास-मार्ग की साधना में देखिये, कितनी नज़ाकत है, कितना धीरज है, कितना साहस है कि प्रत्यक्ष जो दिखाई देता है, उससे ममता नहीं करता और जिसको आज तक नहीं देखा, जहाँ बुद्धि पहुँची नहीं, जो इन्द्रियों के ज्ञान में आया नहीं, उसको मान लिया! और ऐसा-वैसा नहीं मान लिया, उसको मानकर अपने को सदा के लिये, बिना किसी कारण के, बिना किसी शर्तनामे के, उसी को दे दिया कि जो चाहो सो करो। हम तुम्हारे होकर रहेंगे, तुम जो चाहो सो करो। बोले, "हम तुम्हें कभी नहीं मिलेंगे।" उत्तर मिलता है, "तुम्हारी मौज, मिलो, न मिलो, आदर दो, न दो, अपनाओ या न अपनाओ, फिर भी हम किसी और के होकर नहीं रहेंगे और जो सामने दिखाई देता है, उसे अपना नहीं मानेंगे।" तात्पर्य यह कि किसी अन्य से ममता नहीं रखेंगे, क्योंकि जिसको नहीं जानते हैं, केवल मानते हैं, उसी पर हमने सदा के लिये अपने को निछावर कर दिया है। यह है विश्वास-मार्ग। तो इस विश्वास-मार्ग के आधार पर भी आप श्रम-रहित हो सकते हैं, जैसे विवेक की दृष्टि से आप श्रम-रहित हो सकते हैं।

मूक सत्संग द्वारा भी सत्य की प्राप्ति होती है। प्रारम्भ में व्यर्थ चिंतन होने से भयभीत न हों।

श्रम-रहित होने से जिस सत्य की उपलब्धि होती है, उसी को मूक-सत्संग के नाम से कहते हैं। तात्पर्य मेरे कहने का यह है कि भाई, अगर आप विचार-विनिमय द्वारा भी असत्य का त्याग करके सत्य में अपनी प्रतिष्ठा नहीं कर सकते, तो सत्य में श्रद्धा करके श्रम-रहित होकर, आप मूक-सत्संग द्वारा सत्य की प्राप्ति करें। आप कहेंगे कि जब हम मूक-सत्संग करना चाहते हैं, जब हम शांत होते हैं, तो हमारे मन में बड़े-बड़े संकल्प-विकल्पों का प्रवाह बहने लगता है, बड़े बुरे-बुरे संकल्प उठते हैं, बड़े भले-भले संकल्प उठते हैं और उनके प्रवाह से हम भयभीत हो जाते हैं। आप कभी भयभीत न हों। संकल्पों के प्रवाह के कई कारण हैं। भौतिकवादी को तो यह सोचना चाहिये कि यदि वर्तमान कार्य मैंने पूरी शक्ति लगाकर ईमानदारी से किया होता, तो कार्य के अन्त में कार्य का चिन्तन नहीं होता। अध्यात्मवादी को यह सोचना चाहिये कि यदि मैंने निज विवेक के द्वारा अविवेक का अन्त कर दिया होता, तो कभी कामना उत्पन्न नहीं होती। विश्वासी को यह सोचना चाहिये कि यदि मैंने बिना किसी शर्त के अपने आप को अपने प्यारे के समर्पित कर दिया होता, तो मुझमें संकल्प-विकल्प उठते ही नहीं।

व्यर्थ-चिन्तन नवीन प्रवृत्ति न होकर पूर्व का संचित प्रभाव या उसकी स्मृति मात्र है जिसका उदय मिटने के लिए होता है। उससे न तादात्म्य करें, न रस लें, न भयभीत हों।

फिर भी यदि संकल्प-विकल्प उठते हैं, तो भौतिकवादी को यह सोचना चाहिए कि भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का जो प्रभाव चित्त में अंकित था, वह अपने आप निकल रहा है। प्राकृतिक नियम के अनुसार ये नवीन संकल्प-विकल्प नहीं हैं, अपितु पूर्व की हुई प्रवृत्तियों का, सुने हुये का, माने हुए का, जाने हुए का जो प्रभाव अंकित था, वह प्रभाव नष्ट हो रहा है। इस बात को मानकर भौतिकवादी को उन संकल्प-विकल्पों के प्रवाह से डरना नहीं चाहिए, भयभीत नहीं होना चाहिए, और न उन संकल्पों के प्रवाह से कुछ सुख ही लेना चाहिए, अर्थात् सुख भी नहीं लेना चाहिए और भयभीत भी नहीं होना चाहिए, तो प्राकृतिक विधान की दृष्टि से उन संकल्प-विकल्पों का प्रवाह अपने आप मिट जायगा। आप कहेंगे, कैसे मिट जायगा? एक बड़ा

भारी नियम है कि उत्पन्न हुआ संकल्प कितना ही सबल हो, यदि उससे तादात्म्य स्वीकार न किया जाय, तो वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे तृण-रहित कितनी ही बड़ी अग्नि क्यों न हो, अपने आप बुझ जाती है। उसी प्रकार उसका तादात्म्य स्वीकार न करने से संकल्प-विकल्पों का प्रवाह नष्ट हो जाता है। अध्यात्मवादी अर्थात् विवेकी को सोचना चाहिए कि जो संकल्प-विकल्प उठ रहे हैं, वे मुझमें नहीं हैं, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तो पूर्व कृत की एक स्मृति है, जो मिटने के लिए उदय हुई है। इसी प्रकार ही विश्वासी को सोचना चाहिए कि संकल्प-विकल्पों का जो प्रवाह उठ रहा है, उनके द्वारा तो मेरे प्यारे की कृपा-शक्ति मेरे चित्त को शुद्ध कर रही है, साफ कर रही है। ये नवीन संकल्प-विकल्प नहीं हैं, अपितु जो पुरानी स्मृति है, वह नष्ट हो रही है। तो तीनों प्रकार के साधकों को उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से न तो भयभीत होना चाहिए, न तादात्म्य स्वीकार करना चाहिए, न यह सोचना चाहिए कि इस वक्त तो बड़ा सुन्दर संकल्प उठ रहा है, खूब प्रीति बढ़ रही है, यह अवस्था बड़ी सुन्दर है, बड़ी शान्ति है, यह सुरक्षित बनी रहे। प्राप्त अवस्था से हमें न भयभीत होना चाहिए और न उससे तादात्म्य स्वीकार करना चाहिए। इन तीनों प्रकार से यदि हम यह सोच लें, कि जो संकल्प-विकल्प उठ रहे हैं, उनसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, उनसे हमारा सहयोग नहीं है, न हम सुखी हों और न हम दुखी हों, तो आप सच मानिये कि वह संकल्प-विकल्पों का प्रवाह अपने आप मिट जायगा।

संकल्प-विकल्प रहित होने पर निर्विकल्पता आती है। उससे दुःख निवृत्ति तथा शान्ति और शान्ति में रमण न करने से मूक सत्संग सिद्ध होता है।

जब वह संकल्प-विकल्पों का प्रवाह मिट जायेगा, तब निर्विकल्पता आयेगी और निर्विकल्पता समस्त दुखों को खा जायेगी। लेकिन यदि हमने निर्विकल्पता की शान्ति में रमण करना आरम्भ कर दिया, तो वह निर्विकल्पता भंग हो जायेगी और सविकल्पता में बदल जायेगी। आप कहेंगे, "क्यों?" जरा गम्भीरता से विचार कीजिये कि किसी भी अवस्था का भोगी शान्ति नहीं पाता। भोग माने, किसी अन्य के द्वारा सुख प्राप्त करना, सुख की आशा करना। बहुत से लोग समझते हैं कि भोग तो किसी खास बात को कहते हैं। अगर आपकी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर है, तो आप भोगी हैं और जो भोगी होता है, वह कभी भी चिर-शान्ति नहीं पाता, उसे कभी योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए हमें किसी भी प्रकार का भोग नहीं करना

चाहिए। भयभीत होना भी एक भोग है, सुख का आस्वादन करना भी एक भोग है और शान्ति में रमण करना भी एक भोग है। अत: न हमें शान्ति में रमण करना चाहिए, न सुख का आस्वादन करना चाहिए और न किसी से भयभीत होना चाहिए। यदि आप अभय हों, सुख के भोग से रहित हों और शान्ति के रमण से रहित हों, तो आपका अपने आप मूक-सत्संग हो जायेगा।

मूक सत्संग सभी साधनों की भूमि है। उससे भौतिकवादी को शान्ति तथा सामर्थ्य, अध्यात्मवादी को चिन्मय अमर जीवन और विश्वासी को परम प्रेम की प्राप्ति होती है।

मूक सत्संग समस्त साधनों की भूमि है। आप कहेंगे, कैसे? ऐसा कोई पौधा नहीं होता, जो भूमि से नहीं उगता। जैसे भूमि से उत्पन्न होने वाली सभी चीजें भूमि से उत्पन्न होती हैं और फिर उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार जितनी भी आध्यात्मिक साधना है, जितनी आस्तिकवाद की साधना है, जितनी कर्त्तव्यवाद की साधना है, सबमें इस मूक-सत्संग से ही सजीवता आती है। भौतिकवादी उससे आवश्यक सामर्थ्य और शान्ति को प्राप्त करके सन्तुष्ट होने की सोचेगा। आध्यात्मवादी चिन्मय, अमर तथा निर्विकार जीवन को प्राप्त करके संतुष्ट होने की सोचेगा और विश्वासी परम प्रेम को प्राप्त करके सन्तुष्ट होने की सोचेगा। अत: भाई, प्रेमी को प्रेम और विवेकी को बोध और कर्त्तव्यनिष्ठ को शान्ति और सामर्थ्य इस मूक-सत्संग से अपने आप प्राप्त होगी। इसलिये प्रत्येक साधक के लिए यह अत्यन्त अनिवार्य है कि वह प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में स्वभाव से ही शान्त होकर मूक-सत्संग करने का स्वभाव बना ले।

मूक सत्संग करने का महत्त्व

इस पद्धति को प्रचलित करने के लिए मानव-सेवा-संघ ने सायंकाल नौ बजे और प्रात:काल साढ़े तीन बजे का समय मूक सत्संग के लिए निश्चित किया है; क्योंकि देश-काल की दूरी असत्य में है, सत्य में नहीं। हम कहीं भी बैठकर अगर मूक-सत्संग करेंगे, तो जितने लोग करेंगे, उन सबकी एकता हो जायगी। यह भी वैज्ञानिक सत्य है। पर इस रहस्य को कम ही लोग जान पाते हैं। हाँ, अगर कोई इस निश्चित समय पर न कर सके, तो सोने से पहले और उठने के बाद करे। चाहे जब सोवे, चाहे जब उठे, वह सोने से पहले और उठने के बाद भी इसे कर सकता है। प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में भी

कर सकता है। इस प्रकार जब हम मूक सत्संग करने का स्वभाव बना लेंगे, तो आप सच मानिये कि जो सत्य किसी को भी मिला है, हमें और आपको मिलेगा। क्योंकि सत्य के लिए श्रम अपेक्षित नहीं है, कोई परिस्थिति अपेक्षित नहीं है, कोई वस्तु और व्यक्ति अपेक्षित नहीं है। सत्य निरपेक्ष है, बिना किसी के सहयोग के हम सबको अर्थात् मानव-मात्र को वह मिल सकता है। उस सत्य की उपलब्धि के लिए मानव-सेवा-संघ ने मूक-सत्संग-साधना की भी खोज की है। एक बात और आपको हमेशा ध्यान रहे कि खोज किसी की उपज नहीं होती। खोज उसी की होती है, जो पहले से मौजूद है। इसलिए यह समझना चाहिए कि मूक-सत्संग समस्त साधनों के आरम्भ में भी है और अन्त में भी है; क्योंकि किसी प्रवृत्ति का उदय बिना निवृत्ति के नहीं होता और किसी भी प्रवृत्ति का अन्त बिना निवृत्ति के नहीं होता। इसलिए भाई मेरे, समस्त साधनायें मूक-सत्संग से आरम्भ होती हैं और मूक-सत्संग में ही विलीन होती हैं। यह मूक-सत्संग भी एक प्रकार का सत्संग है।

सत्पुरुष में श्रद्धा और सद्ग्रन्थ द्वारा भी सत्संग होता है। सत्पुरुष के उपदेश के अनुसार चलकर जाने हुए असत् का त्याग करें, सद्ग्रन्थ से भी केवल उसे त्यागने का उपाय निकाल लें।

अब दो प्रकार का सत्संग और रह गया। एक तो यह है कि किसी सत्पुरुष के प्रति अपनी श्रद्धा हो, तो यह जानने की कोशिश मत कीजिये कि यह सत्पुरुष कितना जानता है। अपनी निर्बलताओं के सम्बन्ध में सत्पुरुष से चर्चा कीजिये और उसके आदेश के अनुसार अपने ही जाने हुए असत्य का त्याग भी कीजिये। दूसरे किसी सद्ग्रन्थ के द्वारा भी आप सत्संग कर सकते हैं। वह सद्ग्रन्थ चाहे जैसा हो, किन्तु उसमें आपकी अविचल श्रद्धा होनी चाहिए। परन्तु यह मत सोचिये कि हम सारी गीता समझ लें, सारी बाइबिल समझ लें, सारी कुरान की आयतें हमारी समझ में आ जायँ। सोचिये कि यह हमारा अपना जाना हुआ जो असत्य है, उस असत्य के त्याग के लिये इस ग्रन्थ में क्या उपाय है। जैसे औषधालय में जाकर यदि कोई रोगी सभी ओषधियों को खाना चाहे, तो उसका रोग दूर नहीं होगा। उसे तो उन अनेक ओषधियों में से कोई अपने रोग की एक ओषधि निकालनी होगी। जिस समय वह रोग-रहित हो जायगा, तो वह उस मार्ग में डाक्टर बन जायगा, वैद्य बन जायगा। इस मानवता के मार्ग में वही वैद्य बन जाता है, जो रोग-रहित हो जाय। जब आप रोग-रहित हो जायँगे, तो सारा ग्रन्थ भी आपकी समझ में आ

जायगा और सारे सत्पुरुष भी आपकी समझ में आ जायँगे। लेकिन अपने रोग-निवारण के लिए सत्पुरुष को सर्वांश में जानने का और सद्ग्रन्थ को सर्वांश में समझने का प्रयास करना केवल मस्तिष्क की उन्नति करना है। उससे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। तो तीन प्रकार का सत्संग आपसे निवेदन किया—मूक-सत्संग, सत्पुरुष के संग द्वारा और सद्ग्रन्थ के द्वारा सत्संग। इस प्रकार मानव-सेवा-संघ छः प्रकार से सत्संग का समर्थक है।

साधन-रहस्य

जब साधक अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर निरुपाय हो जाता है, तब सर्व-समर्थ की अहैतुकी कृपा आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है।। यह वैधानिक तथ्य है। सजग साधक को उस मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग करना चाहिए; किन्तु उसके अभिमान तथा फल से मुक्त रहना चाहिए। जो बेचारा अपने को किसी भी प्रकार से संतुष्ट कर लेता है, वह अपने में सन्तुष्ट नहीं हो पाता, जो अपने में ही सन्तुष्ट नहीं हो पाता, भला बताओ, वह अपने में नित्य विद्यमान प्रेमास्पद को कैसे पायेगा? यही कारण है कि साधक, साध्य के रहते हुए भी उससे विमुख रहता है। बल उनकी पूजा के लिए है, पूजा उनसे आत्मीय सम्बन्ध दृढ़ करने के लिये है, और आत्मीय-सम्बन्ध में ही अगाध प्रियता है। यह समस्त प्रेमी जनों का अनुभव-सिद्ध सत्य है। जब साधक असावधानी के कारण पूजा से ही अपने को सन्तुष्ट कर लेता है, तब भला, उसे आत्मीय-सम्बन्ध की उपलब्धि ही कैसे हो सकती है? पूजा अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु वह जीवन नहीं है, जीवन की राह है। राह में ठहरना भूल है। अतएव विधिवत् पूजा करो, जिससे करने का राग निवृत्त हो जाय और सहज भाव से निर्लिप्तता आ जाय, जिससे अपना कोई संकल्प न रह जाय। साधक अपने ही संकल्प से संसार में आबद्ध होता है।

बेचारा संसार कभी किसी को बन्धन में नहीं डालता। संसार की तो प्रत्येक गतिविधि स्वभाव से ही साधक को अनन्त की ओर प्रेरित करती है। पर अपने में अपना संकल्प रहने से इस रहस्य का स्पष्ट बोध नहीं होता। जिसे अपना प्रेमास्पद चाहिए, भला उसे और क्या चाहिए, अर्थात् कुछ नहीं। जिसे कुछ नहीं चाहिये, उसी में प्रभु को अपना मानने की सामर्थ्य आती है। जिसे कुछ भी चाहिये, उसे तो किसी-न-किसी प्रकार की सामर्थ्य भाती है। सामर्थ्य का सदुपयोग सेवा में है और सेवा का फल सेव्य को अपना मानने में है। अपना मानने से ही अपने में स्मृति जाग्रत होती है। स्मृति से भिन्न अपना अस्तित्व ही न रह जाय, यही साधक का परम पुरुषार्थ है। प्रभु-विश्वासी को

अपने लिए आत्मीय-सम्बन्ध से भिन्न कुछ भी अभीष्ट नहीं है। बड़े ही आश्चर्य तथा दु:ख की बात तो यह है कि हम बल को अपने लिये पसन्द करते हैं, सेवा के लिए नहीं। उसी का यह परिणाम होता है कि हम प्रभु से विमुख होकर व्यक्ति, वस्तु आदि की दासता में अपने को आबद्ध कर लेते हैं। यह भली प्रकार अनुभव करो कि अपने बन्धन का कारण अपनी भूल ही है और कुछ नहीं। भूल का नाश भूल के ज्ञान से ही होता है। भूल का ज्ञान सत्संग से और सत्संग शान्ति के सम्पादन से सम्भव है। इस दृष्टि से सेवाकार्य के आदि और अंत में साधक को सर्वथा तथा सर्वदा शान्ति ही में वास करना चाहिये। शान्ति प्रेमास्पद का महल है। उसका दरवाजा आत्मीय-सम्बन्ध से जाग्रत अखण्ड स्मृति से ही खुलता है, किसी अन्य प्रयास से नहीं। यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

बल की माँग भोगी के जीवन में होती है और ज्ञान की माँग जिज्ञासु में। किन्तु प्रेमियों के जीवन में तो एक-मात्र अगाध प्रियता की ही माँग रहती है। प्रेमीजन बल के द्वारा प्रेमास्पद की नगरी की सेवा करते हैं; उन्हें अपने लिये कभी भी किसी प्रकार का बल नहीं चाहिए। कारण कि प्रेमियों को जो चाहिये उसकी उपलब्धि बल से सम्भव नहीं। ज्ञान से सृष्टि का प्रभाव नाश होता है। आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु से आत्मीय-सम्बन्ध होता है। प्रभु-विश्वास किसी प्रभु-विश्वासी के वाक्य में अविचल आस्था करने से ही साध्य है। सर्व-समर्थ प्रभु सभी साधकों को सत्संग के द्वारा साधन-निष्ठ बनायें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार।

साधन और साध्य

परमात्मा साध्य है, साधन नहीं; साधन है—विश्वास। मोक्ष साध्य है, साधन हैं—ज्ञान। भौतिक विकास साध्य है, साधन है—प्राप्त बल का सदुपयोग। चिर-शान्ति साध्य है, साधन है—त्याग।

मानव-मात्र में विश्वास करने की सामर्थ्य स्वभाव-सिद्ध है। ऐसा किसी का अनुभव नहीं है कि उसमें किसी-न-किसी के प्रति विश्वास न हो। विश्वास से सम्बन्ध की स्थापना होती है। सम्बन्ध स्मृति जगाने में हेतु है। जब मानव अपने में अपने विश्वास-पात्र की स्मृति पाता है, तब उसे उससे भिन्न में आस्था नहीं रहती। अन्य आस्था का नाश होते ही विश्वासी और विश्वास-पात्र में दूरी नहीं रहती, अर्थात् विश्वासी सर्वत्र, सर्वदा अपने विश्वास-पात्र को ही पाता है; किन्तु स्मृति उत्तरोत्तर प्रियता में परिणत होनी ही

चाहिए, तभी विश्वासी विश्वास-पात्र से अभिन्न होता है। अभिन्नता प्रेम का प्रतीक है, अर्थात् विश्वासी विश्वास-पात्र का प्रेम होकर नित-नव रस प्रदान करने में समर्थ होता है। रस का दान वही कर सकता है, जिसे कुछ नहीं चाहिये तथा जो अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता। विश्वासी का जीवन विश्वास से भिन्न नहीं रहता। विश्वास में सत्ता उसी की होती है, जिसका वह विश्वास है। यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब किया हुआ विश्वास 'सम्बन्ध' में, सम्बन्ध 'स्मृति' में और स्मृति 'प्रियता' में बदल जाय। अहंता और ममता को खाकर प्रियता पोषित होती है, अर्थात् प्रियता जिसमें जाग्रत होती है, उसे अपने से अभिन्न कर लेती है। अहम् का नाश होने पर मम की उत्पत्ति ही नहीं होती, अर्थात् प्रियता और प्रेमास्पद से भिन्न कुछ नहीं रहता। प्रियता की प्रतिक्रिया प्रियता ही है, इस कारण प्रेमी और प्रेमास्पद में भेद और भिन्नता की गन्ध भी नहीं रहती।

विश्वास साधन है, विश्वास-पात्र की प्राप्ति का। विश्वास मानव का स्वधर्म है, शरीर धर्म नहीं, अर्थात् विश्वास अपने द्वारा स्वीकार किया जाता है। उसका प्रभाव स्वत: इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होता है। विश्वास कृति नहीं है, अपितु स्वीकृति है। स्वीकृति को कृति का रूप देना भारी भूल है। पर बड़े ही आश्चर्य की बात यह है कि स्वीकृति को अपनाये बिना, कृति के द्वारा विश्वासी विश्वास-पात्र को प्राप्त करने की सोचता है। कृति मानव को देहाभिमान में आबद्ध करती है और स्वीकृति अनन्त से सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होती है। विश्वास-पात्र वही हो सकता है, जो अद्वितीय है, समर्थ है, सदैव है, सर्वत्र है और सभी का है। उसी की माँग वास्तविक माँग है। उसी में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना है। अपने द्वारा किया हुआ विश्वास विश्वास-पात्र की आत्मीयता में हेतु है। आत्मीयता से जाग्रत प्रियता विश्वासी को विश्वास-पात्र से अभिन्न करने में समर्थ है। विश्वासी को विश्वास-पात्र की प्रियता से भिन्न कुछ नहीं चाहिए। जिसे कुछ और चाहिए वह विश्वासी नहीं है। जो कुछ भी चाहता है, वह विश्वास-पात्र को साधन स्वीकार करता है, साध्य नहीं। जो साध्य नहीं है, वह विश्वास-पात्र नहीं हो सकता। वास्तव में विश्वास 'साधन' है और विश्वास-पात्र 'साध्य'। साध्य को साधन मान लेना अपने को साध्य से विमुख करना है। मानव साधक है। साधक साधन होकर साध्य को प्राप्त करता है, अर्थात् विश्वासी विश्वास होकर विश्वास-पात्र को पाता है, जिसकी उपलब्धि श्रम तथा पराधीनता से नहीं हो सकती, विश्वास से ही होती है।

परिश्रम और पराश्रय के द्वारा मानव उत्पत्ति-विनाश-युक्त वस्तु, अवस्था और परिस्थितियों में ही आबद्ध होता रहता है। जिसे अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन चाहिए, उसे विचारपूर्वक पराश्रय से रहित होना ही पड़ेगा। उसे उत्पत्ति-विनाश रहित में विश्वास करना अनिवार्य है। यद्यपि अविनाशी की माँग सभी में स्वभाव से है; किन्तु उसका अनुभव इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नहीं है, अर्थात् जिसकी प्रतीति होती है, वह अविनाशी नहीं है। उनकी ओर प्रवृत्ति भले ही हो, पर प्राप्ति नहीं है। इस कारण उसमें अविश्वास करना अनिवार्य है। अविनाशी जीवन की माँग मिटाई नहीं जा सकती और उसकी उपलब्धि श्रम-साध्य उपाय से सम्भव नहीं है। अत: जिसकी माँग है, उसमें विश्वास करना चाहिए। विश्वास अपने द्वारा किया जाता है। जो अपने द्वारा किया जाता है, उसके लिए अभ्यास अपेक्षित नहीं होता। इस दृष्टि से विश्वास स्वतन्त्र पथ है; किन्तु विश्वास का उपयोग विश्वास-पात्र की प्रियता से भिन्न किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं करना चाहिए।

प्रियता से भिन्न अन्य कोई उपाय नहीं है, जिससे विश्वासी और विश्वास-पात्र में दूरी, भेद तथा भिन्नता न रहे, अर्थात् अभिन्नता हो जाय।

साधक में साध्य की माँग है, जिसकी पूर्ति साधन-साध्य है। यद्यपि माँग स्वत: एक साधन है, परन्तु साध्य को स्वीकार किये बिना माँग सबल तथा सजीव नहीं होती। साध्य को स्वीकार करने के लिए साध्य में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य है। विश्वास उसी में किया जाता है, जिसे बलपूर्वक प्राप्त नहीं कर सकते। बलपूर्वक उसी की उपलब्धि होती है, जो सभी के लिए सर्वदा सम्भव नहीं है। और जो सभी के लिए सर्वदा सम्भव नहीं है, वह मानवमात्र का लक्ष्य भी नहीं हो सकता। वास्तविक माँग उसी की होती है, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। अपने लक्ष्य की माँग मानव में विद्यमान है। उसका स्पष्ट ज्ञान तभी सम्भव है, जब मानव शान्त होकर अपनी ओर देखे। प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुई रुचि का चिन्तन होता है। चिन्तन को देखना और उसके सम्बन्ध में विचार करना उस समय तक आवश्यक है, जिस समय तक अपनी वास्तविक माँग का बोध न हो जाय। वास्तविक माँग की जागृति प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुई रुचि को भस्मीभूत कर देती है। प्रवृत्ति-जनित रुचियों का नाश होने पर अहंकृति शेष नहीं रहती। अहंकृति का अन्त होते ही, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से असंगता हो जाती है। शरीरादि की असंगता साधक को उससे अभिन्न कर देती है, जो सर्वत्र और सर्वदा है। उसी में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास किया जा सकता है। विश्वास उसकी प्राप्ति का साधन

है, जिसे बलपूर्वक प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता। बलपूर्वक प्रवृत्ति द्वारा आज तक किसी ने उसे प्राप्त नहीं किया, जो सभी को सर्वदा सम्भव है। मानव-जीवन उसी अद्वितीय, अनुपम, अलौकिक जीवन की उपलब्धि के लिए मिला है, जो प्रत्येक साधक को सर्वदा सम्भव है।

यह सभी को मान्य है कि प्रवृत्तियों का आरम्भ और अन्त होता है। अत: प्रवृत्तियों के द्वारा जो कुछ प्राप्त-सा प्रतीत होता है, उसका भी अन्त होता है। इस कारण प्रवृत्तियों के द्वारा अनन्त की उपलब्धि नहीं होती, अथवा यों कहो कि जो मौजूद है, उसकी उपलब्धि प्रवृत्ति-साध्य नहीं है। मौजूद से देश-काल की दूरी नहीं होती, अपितु उसकी विस्मृति होती है। विस्मृति का नाश स्मृति से ही सम्भव है। स्मृति का उदय एकमात्र आत्मीयता से ही सम्भव है। आत्मीयता आस्था, श्रद्धा और विश्वास से ही साध्य है। इस दृष्टि से अनन्त, अविनाशी, चिन्मय जीवन की प्राप्ति के लिए साधक को अनन्त में आस्था, श्रद्धा और विश्वास करना अनिवार्य है। यदि साधक विश्वास करने में अपने को असमर्थ पाता हो, तो उसे अपने में से सभी विश्वासों का अन्त कर देना चाहिए। विश्वास का अन्त किसी अन्य विश्वास से नहीं होता, अपितु निज-ज्ञान से होता है। निज-ज्ञान का प्रभाव समस्त दृश्य से निर्मम, निष्काम एवं असंग करने में समर्थ है। निर्ममता से निर्विकारता, निष्कामता से चिर-शान्ति तथा असंगता से अमरत्व की उपलब्धि होती है, जो अपने लिए उपयोगी है। किन्तु जिसने अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर ज्ञान का प्रकाश दिया है, उसमें अविचल आस्था, श्रद्धा और विश्वास करने से उसी के प्रेम की उपलब्धि होती है। तब जीवन 'उसी' के लिए उपयोगी हो जाता है। ज्ञान मानव को अभयदान देता है; किन्तु प्रेम मानव को अनन्त से अभिन्न कर देता है। बल और ज्ञान अनन्त की विभूतियाँ हैं। बल मानव को विश्व-शान्ति के लिए मिला है और ज्ञान अमरत्व के लिए। बल का उपयोग अपने लिये नहीं है। जो अपने लिये नहीं है, उसके द्वारा अपने को अपने की उपलब्धि नहीं होती। अपना वही है, जो सदैव, सर्वत्र और सभी में है, सभी का है और सब कुछ है। सभी में होने से अपने में भी है, सभी का होने से अपना भी है और सर्वत्र होने से मौजूद भी है। उसकी प्रियता ही अपनी माँग है; क्योंकि प्रियता से ही सदा के लिए विस्मृति का नाश होता है। विस्मृति के नाश में ही अविनाशी, स्वाधीन, रस-रूप और चिन्मय जीवन की उपलब्धि निहित है। अपने में अपनत्व सजीव करने के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता अनुभव नहीं करनी चाहिए, अर्थात् चाह-रहित होने से ही अपनत्व सजीव होता है। जिसका कोई अपना है, उसे अपने की प्रियता से भिन्न कुछ नहीं चाहिए। प्रियता से,

जो अपने हैं, उन्हें रस मिलता है और अचाह होने से दु:खों की निवृत्ति होती है। सर्व दु:खों की निवृत्ति और अनन्त रस की अभिव्यक्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। साध्य वही है, जो सदैव है। उसकी उपलब्धि उसको साध्य मानने से ही होती है। उसका साधन है, आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक साध्य में आत्मीयता। अत: साधक को साध्य के विश्वास को ही अपनाकर साध्य की विस्मृति का सर्वांश में अन्त कर देना चाहिए। स्मृति साधक में उदित होकर, साध्य की प्रियता प्रदान कर, साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहने देती। किन्तु जब साधक साध्य को साधन मान लेता है, तब उसमें साध्य के प्रति आत्मीयता नहीं रहती और फिर प्रमाद-वश साध्य को भोग-मोक्ष की प्राप्ति का साधन मान लेता है। यद्यपि साध्य ने भोग-प्राप्ति के लिए कर्म-सामग्री और मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान का प्रकाश अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव को स्वत: प्रदान किया है; किन्तु मानव साध्य को साधन बना कर अपने को साध्य के प्रेम से वंचित कर लेता है। प्रेम के बिना अहं-भाव-रूपी अणु का अत्यन्त अभाव नहीं होता और उसके बिना हुए किसी-न-किसी अंश में मम उत्पन्न होता रहता है, जो समस्त विकारों का मूल है। अत: साध्य को साधन न मानकर साध्य ही मानना चाहिए।

साध्य की विस्मृति साध्य की आत्मीयता से नाश होगी और आत्मीयता एकमात्र आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास से ही साध्य है। सर्व-समर्थ अपने हैं, अपने में हैं-यह साधन है, साध्य की अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति का। इस दृष्टि से साध्य का विश्वास ही साध्य की प्राप्ति में समर्थ है।

जीवन का सत्य क्या है?

आपके जीवन का सत्य है कि बोध आपके पुरुषार्थ का फल नहीं है। वह तो आपको प्रदान किया गया है। त्याग ज्ञान से सिद्ध है, कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा किसी पर कोई अधिकार नहीं है। यह बात ज्ञान से सिद्ध हुई न। और यह ज्ञान आपके पुरुषार्थ का फल नहीं, वरन् वह आपको मिला है। ऐसे ही प्रभु मेरे अपने हैं, यह आस्था से सिद्ध है। आस्था का तत्त्व आपको मिला है। ऐसे ही बल के सदुपयोग से बल की भ्रान्ति की समस्या हल होती है, कि बल आपके द्वारा उपार्जित नहीं, मिला हुआ है। तो बल आपको मिला हुआ है, ज्ञान आपको मिला हुआ है, आस्था आपको मिली हुई है। यह जो बल, आस्था और ज्ञान का तत्त्व आपके जीवन में है, यह आपके किसी कर्म-विशेष का फल नहीं है; क्योंकि कर्म-विशेष का फल यदि

होता—आस्था, बल और ज्ञान यदि आपके कर्म का फल होता—तब तो आप ऐसे यंत्र बना सकते थे जिनसे आपको आस्था, ज्ञान और बल मिल जाता। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं हुआ। हाँ, बल के सदुपयोग से बल मिलता है। ज्ञान के सदुपयोग से मुक्ति मिलती है, आस्था के सदुपयोग से भक्ति मिलती है। यह आपके जीवन का अनुभव-सिद्ध सत्य है। तो, मूल बल आपको दिया गया है, आपके भेंट किया गया है। ऐसे ही मूल ज्ञान आपको मिला है, मूल विश्वास आपको मिला है।

तो मिले हुए मूल बल के द्वारा आप संसार के काम आयें और मिले हुए ज्ञान के द्वारा आप निर्मम, निष्काम होकर मुक्त हो जायें, मिले हुए विश्वास के द्वारा प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करके भक्त हो जायँ।

अब आप देखिये, ये तीनों बातें आपने अपने द्वारा कीं। कौन-कौन सी? बल का दुरुपयोग न करने का निर्णय अथवा बल के सदुपयोग के फल को छोड़ना—यह आपने अपने द्वारा किया। मैं बल का दुरुपयोग नहीं करूँगा—इसमें क्या शरीर की सहायता लेनी पड़ी? क्या संसार की सहायता लेनी पड़ी? मैं बल के सदुपयोग का फल नहीं मागूँगा, उसका अभिमान नहीं करूँगा। इसमें शरीर और संसार की सहायता आपको अपेक्षित नहीं हुई। तो, जो अपने द्वारा किया जाय, उसी को सत्संग कहते हैं। और सत्संग क्या है? सत्संग माने, मनुष्य का स्वधर्म। तो, जो आपने अपने द्वारा बल का दुरुपयोग छोड़ दिया, सदुपयोग का अभिमान और फल छोड़ दिया, उससे आपका संसार से सम्बन्ध टूट गया। अब देखिये, संसार से सम्बन्ध टूट गया तो संसार भी छूट गया। एक बात। और यह भी सोचिये कि साधन-परायण होने के लिये संसार का सम्बन्ध बाधक था, संसार बाधक नहीं था। हमारी साधना में जो बाधक है, वह संसार का सम्बन्ध बाधक है, संसार बाधक नहीं है। इसलिये संसार का सम्बन्ध टूटने से साधना में जो बाधा थी, वह समाप्त हो गई, और उसका अन्त हो जाने से आपके विकास का क्रम क्या होगा? अब इस पर थोड़ा विचार कीजिये।

जिस समय बल के दुरुपयोग को छोड़कर, बल के सदुपयोग के अभिमान और फल को छोड़ देंगे, तो थोड़ी देर के लिए आप अपने को अपने में सन्तुष्ट पायेंगे। इस प्रकार संसार से सम्बन्ध तोड़ने का फल यह होता है कि मानव अपने को अपने में सन्तुष्ट पाता है। और अपने को अपने में सन्तुष्ट होने का फल क्या है? अगर हम सन्तुष्ट हो गये, तो उसका फल क्या है? यही न कि अपने में जो अपना जीवन है, वह हमको प्राप्त हो गया, या अपने में जो अपना परमात्मा है, वह हमको प्राप्त हो गया, या अपने में जो

अपनी प्रियता है, वह हमको प्राप्त हो गई, या अपने में जो अपना आनन्द है, वह हमको प्राप्त हो गया। यहाँ पर अनेक ढंग से जो बात कही गईं, वह केवल अन्य मान्यताएँ होने के कारण कही गईं। नहीं तो सीधी सी बात यह है कि बुराई-रहित होकर और भलाई का अभिमान और फल छोड़कर, जब साधक अपने में सन्तुष्ट होता है, तब वह सब कुछ पा जाता है। इतना कहना पर्याप्त था, इससे ज्यादा कहने की जरूरत नहीं थी। लेकिन विभिन्न प्रकार के विचार आप लोगों के मस्तिष्क में अंकित रहते हैं, इसलिये सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए ऐसा निवेदन किया गया कि अपने में सन्तुष्ट हुए बिना बुद्ध का 'निर्वाण' सिद्ध नहीं होता, शंकर का 'निजानन्द' सिद्ध नहीं होता और महाप्रभु का 'प्रेम' सिद्ध नहीं होता। ये तीनों तत्त्व तभी सिद्ध होंगे, जब आप अपने को अपने में सन्तुष्ट पायेंगे। और अपने को अपने में सन्तुष्ट तभी पायेंगे, जब आप संसार के सम्बन्ध से मुक्त होंगे। और संसार के सम्बन्ध से तभी मुक्त होंगे, जब बुराई से रहित होकर भलाई के अभिमान और फल को छोड़ दें। वास्तव में सम्पूर्ण जीवन की साधना का क्रम इस प्रकार आपकी सेवा में निवेदन किया गया।

अब आप दूसरी दृष्टि से सोचिये। कल्पना कीजिये कि आप बुराई-रहित होना तो चाहते हैं, पर हो नहीं पाते, या भलाई का अभिमान और फल छोड़ना तो चाहते हैं, पर छोड़ नहीं पाते। यानी जो चाहते हैं, सो कर नहीं पाते। इसका परिणाम यह होना चाहिये कि हम कर भले ही न पायें, परन्तु जीवन की जो माँग है, उससे तो हम निराश न हो जायें। जब हम निराश नहीं होंगे और साथ ही अपने द्वारा उसे प्राप्त करने में असमर्थ भी पायेंगे, तब आपमें अपने आप, एक वेदना जाग्रत होगी। यह वेदना ईश्वरवादी की प्रार्थना है। यह वेदना अध्यात्मवादी की साधना है। यह वेदना भौतिकवादी की उदारता है। तो, यह वेदना जाग्रत होनी चाहिए। कौन-सी वेदना? साध्य की प्राप्ति से निराश न होने पर और अपनी निर्बलता का अनुभव करने पर, जो वेदना होती है, वह वेदना जाग्रत होनी चाहिए। आप कहेंगे कि अगर हमें जो करना चाहिए, वह ठीक कर लिया, तो फिर हमें इसकी क्या जरूरत है? ठीक बात है। तब वह वेदना नहीं होगी। वह लक्ष्य की प्राप्ति होगी और लक्ष्य की प्राप्ति होने के बाद ऐसी वेदना होगी कि सभी को लक्ष्य प्राप्त हो जाय। और इसी बात को बताने के लिए किसी लेखक ने भगवान् बुद्ध के जीवन को सामने रखकर लिखा था कि भगवान् बुद्ध का कहना है कि जो मानव इतने ऊँचे जीवन का अधिकारी है, कि जिसमें पराधीनता का, अशान्ति का, जड़ता का, अभाव का, हिंसा का प्रवेश ही नहीं हो सकता। जो मानव इतने ऊँचे जीवन

का अधिकारी है, वही मानव आज, अपनी ही भूल से पृथ्वी पर कीड़े-मकोड़े की तरह जी रहा है। क्या है यह? क्या यह बुद्ध की वेदना नहीं है? तो मैं, यह निवेदन कर रहा था कि जो सही कर्त्तव्य-पालन करके अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, उनमें भी इस रूप में वेदना उत्पन्न होती है कि सभी को सफलता मिलनी चाहिये। उन्हीं को तो समाज ने महापुरुष कहा। उनको महापुरुष नहीं कहा, जिनके जीवन में समाज के हित की उत्कट अभिलाषा नहीं जगी, जिन्होंने समाज को यह विश्वास नहीं दिलाया कि जो जीवन मुझे मिला है, तुम्हें भी, सभी को मिल सकता है। और जिन्होंने ऐसा नहीं किया, उनको समाज ने कभी पसन्द नहीं किया। इसलिए महानुभाव! अब आप स्वयं देखिये, मानव जीवन का यह कितना महान् गौरव है कि आप अपने ही द्वारा बुराई-रहित होकर धर्मात्मा हो सकते हैं; धर्म के अभिमान और फल को छोड़कर आप मुक्त हो सकते हैं और मुक्ति से मुक्त होकर आप भक्त हो सकते हैं, और भक्त होने से आपमें भक्ति-रस की अभिव्यक्ति हो सकती है। और भक्ति-रस की अभिव्यक्ति से आप भगवान् को रस दे सकते है, या इस प्रकार के जीवन से भगवान् को रस मिलता है। तो, मनुष्य का सम्बन्ध जो भगवान् के साथ है, वह भगवान् से कुछ माँगने के लिए नहीं है, भगवान् का प्रेमी होने के लिए है। और मनुष्य का सम्बन्ध जो संसार के साथ है, वह संसार से कुछ लेने के लिए नहीं है, वह उदार होने के लिए है। तो, हमारा सम्बन्ध संसार के साथ उदार होने के लिए, और हमारा सम्बन्ध भगवान् के साथ प्रेमी होने के लिए है। आप भगवान् के लिए प्रेमी हो जायें, संसार के लिये उदार हो जायें। परन्तु यह तभी होगा कि जब संसार से हम कुछ न चाहें और भगवान् से भी कुछ न चाहें, तभी यह बात सिद्ध होगी। अब आप सोचिये, जिसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये, वह अशान्त होगा क्या, वह पराधीन होगा क्या, वह देहाभिमानी रहेगा क्या? उसका तो देह का अभिमान भी गल जायगा, पराधीनता भी मिट जायगी, अशान्ति भी मिट जायगी, यानी समस्त विकारों का नाश हो जायगा और वह निर्विकार जीवन से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो जायगा। इस दृष्टि से विचार किया जाय, तो आपके इस मानव-जीवन का बड़ा भारी महत्त्व है कि आप संसार के लिये उदार हो सकते हैं, आप प्रभु के लिये प्रेमी हो सकते हैं और अपने लिये अचाह हो सकते हैं, अचाह। अचाह का क्या यह अर्थ है? अचाह का अर्थ बड़ा छोटा कर लिया लोगों ने। पैर में दर्द हो रहा है, डॉक्टर मौजूद है; प्रार्थना कैसे करें, नम्रता कैसे दिखायें, यह कैसे कहें कि हमारे दर्द है, देख लीजिये। क्यों? ऐसा कहने से अगर उन्होंने नहीं देखा तो? तो बड़ा अपमान हो जायगा। ठीक बात

है। नहीं देखेगा, तो अपमान हो जायगा। लेकिन अपमान तब हो जायगा, जब आप यह मानेंगे कि मेरा पैर था। अरे भाई, यह उसी का पैर था, जिसका डाक्टर था। तो, अगर डाक्टर किसी बीमार के कष्ट को नहीं रोकेगा, तो परमात्मा का विधान तोड़कर वह परमात्मा का अपमान करेगा कि अपना अपमान करेगा? पर आपको तो अपना अपमान मालूम होता है। ऐसा इसलिए मालूम होता है कि आप परमात्मा की वस्तु को अपनी वस्तु मानते हैं। अगर आपकी कोई शारीरिक सेवा करेगा, तो आप उपकार इसलिए नहीं मानते कि उसने सेवा की है, आप इसलिये मानते हैं कि शरीर को आपने अपना माना है। ऐसे ही सेवा करने वाला आप पर एहसान करता है, तो समझिये कि वह सेवा नहीं करता। वह परमात्मा की दी हुई वस्तु को अपनी मानकर, बेईमान बनकर, संसार में मिथ्या अभिमान करता है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था आपसे कि यह सारी बातें क्यों नहीं जीवन में आतीं? इसलिये नहीं आतीं कि सचमुच हम अचाह होकर रहते ही नहीं, हम निर्मम होकर रहते ही नहीं। यदि हम अचाह होना पसन्द करें, अगर हम निर्मम होना पसन्द करें और ऐसा सोचें कि हमारा करके जब कुछ है ही नहीं, और हमें संसार से कुछ चाहिये ही नहीं, तो संसार हमको क्यों अपमानित करेगा? संसार हमको क्यों हानि पहुँचायेगा? न वह हानि पहुँचायेगा, न अपमानित करेगा। क्यों? संसार तो उसे अपमानित करेगा, जो संसार की वस्तु को अपना मानेगा, जो संसार से कुछ चाहेगा। अरे भाई, संसार की वस्तु का उपयोग संसार की सेवा में करना और संसार के कार्य के लिए संसार से भिक्षा माँगना-यह अपमान नहीं है, यह बन्धन नहीं है। परन्तु लोग आज उसी को बन्धन मानते हैं; और जो अपना बनाया हुआ उनका बन्धन है, जो सम्पत्ति को, योग्यता को, वस्तु को अपना मानकर, उस पर अपना अधिकार जमाकर, उसको अपना मानते हैं। तो, बन्धन अपना मानने में है कि, अपना न मानने में है? विचार करने पर आपको साफ दिखाई देगा कि अपना न मानने में बन्धन नहीं है, अपना न मानने में अशान्ति नहीं है। जब अपना न मानने में बन्धन नहीं है, अशान्ति नहीं है, तो फिर उसमें क्या है? शान्ति है, स्वाधीनता है। और भाई, जब शान्ति और स्वाधीनता है, तब हम सचमुच प्रेमी हो सकते हैं, उदार हो सकते हैं। अगर हमारे जीवन में शान्ति नहीं है, अगर हमारे जीवन में स्वाधीनता नहीं है, तो सच्चाई के साथ न हम उदार हो सकते हैं, और न प्रेमी हो सकते हैं और न अचाह हो सकते हैं। और जब तक ये तीनों बातें नहीं हो जातीं, तब तक जीवन की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

योग की प्राप्ति

प्रीति और प्रीतम के नित्य विहार में ही जीवन की पूर्णता है। प्रेम का पान एकमात्र वही कर सकते हैं, जो सदैव सभी के अपने हैं। और प्रेम का दान वे ही शरणागत साधक कर सकते हैं, जिन्होंने ज्ञानपूर्वक निर्मम-निष्काम होकर, स्वाधीनता प्राप्त की है। स्वाधीन होने पर ही साधक में साध्य के प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, यह शरणागत साधकों का अनुभव है। प्रियता आत्मीयता से ही जाग्रत होती है, यह सर्वमान्य सत्य है। परन्तु आत्मीय सम्बन्ध तभी सजीव होता है, जब साधक यह अनुभव करे कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, एकमात्र प्राण प्यारे प्रभु ही अपने हैं।

यह विकल्प-रहित आस्था से ही साध्य है। ज्ञान से साधक भूलरहित होता है, दृश्य से मुक्त होता है, अपने में सन्तुष्ट होता है एवं अविनाशी जीवन से अभिन्न होता है। यह समस्त विचारकों का मत है। किन्तु आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना अपने में जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनमें आत्मीयता नहीं होती। और आत्मीयता के बिना सहज स्नेह उदित नहीं होता और उसके बिना प्रीति और प्रीतम का विहार नहीं होता, जो रस रूप है। रस की माँग जीवन की माँग है। कारण कि रस से अरुचि नहीं होती, अपितु नित-नव वृद्धि ही होती रहती है। इस दृष्टि से रस अनन्त, अविनाशी एवं चिन्मय है। उसी अनुपम अलौकिक रस की प्राप्ति के लिए मानव-जीवन मिला है। इतना ही नहीं, सृष्टि और सृष्टि के प्रकाशक का भी यही संकल्प है कि मानव सुख-दुःख से अतीत अविनाशी, रसरूप जीवन की आवश्यकता अनुभव करे। आवश्यकता अनुभव करने की स्वाधीनता प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है अर्थात् यह स्वाधीनता का सदुपयोग विकास का मूल है। स्वाधीनता के सदुपयोग से साधक स्वयं स्वाधीन हो जाता है और फिर अपने में ही अपने प्रेमास्पद को पाकर सब कुछ पा जाता है। इस दृष्टि से स्वाधीनता के सदुपयोग द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। स्वाधीनता की माँग सबल होते ही समस्त विश्व हर्षित होता है और सर्वाधार का वह पात्र हो जाता है। सभी सत्पुरुषों की सद्भावना उसकी रक्षा करती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। अतः प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र स्वाधीन होने की उत्कट लालसा एवं तीव्र आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

स्वाधीनता के लिए ही यह मानव-जीवन मिला है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं, जिन्होंने अपनी वास्तविकता का अनुभव किया है। पराधीनता

की निवृत्ति और स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। इसमें विकल्प करना घोर प्रमाद है। जिसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं रहता, उसकी माँग सबल हो जाती है। यह निर्विवाद सत्य है। माँग के सबल तथा स्थायी होने से ही काम का नाश होता है। काम का नाश होते ही दृष्टि स्वत: दृश्य से विमुख होकर अपने उद्गम में विलीन हो जाती है और फिर नित्य योग स्वत: सिद्ध हो जाता है। योग की पूर्णता में ही बोध तथा प्रेम निहित है। योग शरीर धर्म नहीं है, अपितु साधक का अपना जीवन है। योग की प्राप्ति में कोई पराधीनता नहीं है। उसे स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। जिसकी प्राप्ति स्वाधीनतापूर्वक होती है, उसके लिए किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए योग मानव-मात्र के लिए सर्वदा सुलभ तथा सम्भव है। विश्वासी साधक आत्मीय सम्बन्ध से, विवेकी असंगता से एवं भौतिकवादी बुराई-रहित कर्त्तव्य-परायणता से योग के साम्राज्य में प्रवेश पाते हैं। योग की माँग से ही भोग की रुचि का नाश होता है, जिसके होते ही योग स्वत: प्राप्त हो जाता है। अत: योग की प्राप्ति से कभी किसी को निराश नहीं होना चाहिए।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से जीवन का जो सत्य है, उसे स्वीकार करने की सामर्थ्य प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ!

योग की सिद्धि में कर्त्तव्य का पालन अनिवार्य

कोई भी सजग मानव ऐसा कह ही नहीं सकता कि जिसमें उदारता हो, उसको संसार ने न पसन्द किया हो। कोई सजग मानव नहीं कह सकता कि जिसके मन में प्रेम हो, वह प्रभु से अलग हो सकता है—प्रभु से अलग रह ही नहीं सकता; क्योंकि वह प्रेमी है। और प्रेमी व्यक्ति का विरोध संसार नहीं कर सकता; क्योंकि वह उदार है और यह उदारता और प्रेम किसी परिस्थिति में कैद नहीं रहते, किसी वस्तु में कैद नहीं रहते। भगवान् न करें, ऐसा कभी हो। अगर ऐसा कहीं होता, तो यह उदारता और प्रेम धन के अधीन हो जाते। तो सारे संसार की उदारता और प्रेम चले जाते अमेरिका में। अगर यह बल के अधीन हो जाते, तो रूस में चले जाते। अगर यह बल संख्या के अधीन होते, तो चीन में चले जाते, अगर झूठे प्रोपेगण्डा के अधीन होते, तो पाकिस्तान में चले जाते। अगर आलस्य और अकर्मण्यता के अधीन होते, तो हमारे यहाँ रह जाते, और बुद्धिमता के साथ होते, तो लन्दन में चले जाते। परन्तु यह उदारता और प्रेम जीवन है और यह जीवन स्वाधीन होने से ही प्राप्त होता है।

स्वाधीन होने की स्वाधीनता मजूदर से लेकर मिल ओनर तक को है, चौकीदार से लेकर बड़े-से-बड़े आफीसर तक को है, बे-पढ़े से लेकर बड़े-से-बड़े विद्वान् तक को है, हर वर्ग के आदमी को है। मनुष्य-मात्र जब चाहे, स्वाधीन हो सकता है। जीवन के इस सत्य को जब हम और आप अपना लेंगे, तब हमारे और आपके जीवन का चित्र होगा—स्वाधीनता, उदारता और प्रेम। देखिये, उदार पुरुष की माँग संसार के सारे प्राणियों को रहती है, और वह क्यों रहती है? इसलिये रहती है, क्योंकि उदार-हृदय व्यक्ति सुखियों को देखकर प्रसन्न रहता है, इसलिये सुखी वर्ग उसे अपना मानता है। उदार-हृदय व्यक्ति दु:खियों को देखकर करुणित भी होता है, इसलिये दु:खी वर्ग भी उसे अपना मानता है। और तुम्हारे प्रेम की माँग जगत् और जगत्पति दोनों को ही है। और स्वाधीन व्यक्ति को अपने लिए कभी कोई माँग नहीं होती। यह ऐसा विचित्र, ऐसा अनुपम, और ऐसा अलौकिक विधान है कि जो अकिंचन हो, वह सब कुछ पा जाय और जिसके पास अपना करके कुछ हो, उसे कुछ नहीं मिलता। यही जीवन का विधान है। परन्तु आज हम इसी विधान को भूल गये और सोचने लगे कि हमारे पास कुछ होगा, तब हम कुछ पायेंगे। परन्तु सच बात तो यह है कि यदि आपके पास कुछ होगा, तो आप पायेंगे नहीं, सब कुछ गवायेंगे। आज इस तथ्य को समझने की बड़ी भारी आवश्यकता हो गई है। जो भाई और बहिनें यह सोचती हैं कि हम तो पढ़े-लिखे नहीं हैं, हमारे पास कोई योग्यता नहीं है, हममें किसी प्रकार की विशेषता नहीं है। ऐसे भाई और बहिनों से मैं खासतौर पर निवेदन करना चाहता हूँ कि आपके पास डिग्री नहीं, योग्यता नहीं, कोई विशेषता नहीं; परन्तु भाई, आप मानव तो हैं, और मानव होने के नाते आप जब चाहें, स्वाधीन होकर उदार और प्रेमी हो सकते हैं। इस प्रकार जब मानव-जीवन में क्रान्ति आयेगी और यह क्रान्ति भी किसी 'पर' के द्वारा नहीं आयेगी। सत्य उसे नहीं कहते, जिसमें किसी का भाग न हो, जिसे सब न अपना सकें। हमें सन् 1914 के वे दिन याद हैं, जब कान्सपिरेसी (Conspiracy) केस चल रहा था—संसार की बात हमें कम मालूम हैं, सन् 1914 की ज्यादा, सन् 1919 तक यही धूमधाम रही। लेकिन सन् 1921 में एक मानव ने हमें यह बताया कि हमारी मर्जी के बिना ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है, जो हम पर शासन कर सके। तो भैया, गान्धी जी ने कोई देश-प्रेम नहीं दिया, देश-प्रेम तो हमारे उन नौजवानों में था, जो इस बात को अच्छी तरह से जानते थे कि, कुछ अंग्रेजों को मारने से अंग्रेजी राज्य नहीं चला जायगा। ऐसी बात नहीं कि वे इस बात

को न जानते हों, फिर भी आजादी के प्रेम को बढ़ाने के लिए वे हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ जाते थे। मेरा परिचय अनेक ऐसे क्रान्तिकारियों से रहा है। तो, हमारे देश में आजादी का प्रेम तो था, पर आजादी का मार्ग नहीं था। एक महापुरुष आये और उन्होंने यह बताया कि भाई, चाहे हम कितने ही कमजोर क्यों न हों, पर हमारी मर्जी के बिना हम पर कोई हुकूमत नहीं कर सकता। तो, यह महामंत्र दिया गान्धी जी ने, जिसमें मेरे जैसे अन्धे भी, लूले भी, लंगड़े भी, बेपढ़े भी सब शामिल हो गये। हमें अंग्रेजी सरकार नहीं चाहिये-देश की यही सबल माँग थी, जिसके सामने अंग्रेजी जैसी शक्तिशाली हुकूमत को घुटने टेक देने पड़े। इतना ही नहीं, आखिर उसे इस देश को छोड़ कर भाग जाना पड़ा। लेकिन हमने एक बात को नहीं अपनाया। प्रोपेगण्डा के स्टेज तक तो हम उनके साथ रहे; परन्तु जब उन्होंने यह कहा कि भाई, देश की स्वाधीनता का अर्थ, वर्ग की स्वाधीनता नहीं है, प्रान्त की स्वाधीनता नहीं है, किसी पार्टी-विशेष की स्वाधीनता नहीं है। देश की स्वाधीनता का अर्थ है, देश के रहने वाले लोग स्वयं स्वाधीन जीवन में प्रवेश करें।

स्वाधीन किसे कहते हैं? जिसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये, जिसके पास अपना करके कुछ न हो। परन्तु दुर्भाग्य से हम लोग इस बात को भूल गये और लीडरी को छोड़कर मिनिस्टरी पकड़ ली। जिस देश का लीडर मिनिस्टर हो जाता है, वह देश नेता-विहीन हो जाता है, और जो सरकार कानून बनाती है, वह अपनी जगह पर बिल्कुल बदल जाती है। 'सरकार' एक आपत्ति धर्म है। वास्तव में तो मनुष्य के ऊपर कोई शासक रहे—इससे बढ़कर उसके लिये और कोई कलंकित और काला समय नहीं है। शासित रहना या शासक होना—इन दोनों ही को मैं मानव का सबसे बड़ा अपमान मानता हूँ। परन्तु एक आपत्ति धर्म होता है, लोग मनमानी न करने लग जायँ, उसको रोकने के लिये कभी रानी के पेट से राजा निकला। कभी जनता के पेट से मिनिस्टर निकला। परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि रानी के पेट से निकला हुआ राजा बेईमान हो जाय और जनता के पेट से निकला हुआ मिनिस्टर बेईमान न हो, ऐसा कानून नहीं है। जो 'मानव' होगा, वह ईमानदार बना रहेगा। जो 'मानव' नहीं है, वह बेईमान हो ही जायगा।

प्राप्त के सदुपयोग का महत्त्व—1

आप मानव हैं, मानव होने के नाते आपकी कोई माँग है। मानव होने के नाते आप पर कोई दायित्व है। तो, आप अपनी माँग को अनुभव करें और अपने दायित्व को भी अनुभव करें। दायित्व पूरा करने पर आपकी माँग पूरी हो सकती है। लोग अक्सर पूछा करते हैं कि भगवान् ने सृष्टि कब बनाई, क्यों बनाई आदि। ऐसा ही प्रश्न एक बार गुजरात के वर्तमान् गवर्नर श्रीमन्नारायण जी अग्रवाल की माता जी ने मुझसे किया था। मैं उनके यहाँ ठहरा हुआ था। उनकी माता जी ने पूछा, -"स्वामी जी, भगवान् ने सृष्टि क्यों बनाई?" मैंने उत्तर में कह दिया, "मेरे लिये बनाई।" फिर पूछा, "उसे दु:खमय क्यों बनाया?" "भगवान् को हम भूल न जायें, उसे दु:खमय इसलिए बनाया।" यदि यह प्रश्न आपका वस्तुत: अपना होगा, तो वह हल भी हो जायेगा; परन्तु केवल कुतूहलवश हो, तो बात दूसरी है। भला सोचिये तो सही कि आपको अपना कर्त्तव्य तो दिखाई नहीं पड़ता, और भगवान् का कर्त्तव्य सूझ गया। आपको अपनी भूल तो दिखाई नहीं पड़ती, और भगवान् की भूल दीख गयी। भगवान् भी भूल करें, ऐसा हो ही नहीं सकता। ऐसी तो अपनी ही भूल है कि भगवान् को अभी याद भी करते हैं, और फिर उन्हें भूल भी जाते हैं।

मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आपको जो योग्यता मिली है, जो वस्तु मिली है, जो सामर्थ्य मिली है, उसके सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है, कि जो कुछ मिला है वह दूसरों के लिये है, और जो 'मौजूद' है, वह अपने लिये है। अब इस बात को सोचिये कि मिला क्या है और मौजूद क्या है? मौजूद का तो आपको ज्ञान ही नहीं है, उस पर तो आपका ध्यान ही नहीं गया। मिले हुए पर आपका ध्यान सदैव रहता है। मिला, जैसे बोलने की शक्ति, सुनने की शक्ति, देखने की शक्ति आदि। तो, जो मिला है, उसके लिए देने वाला चाहिये, तभी न उसकी पूर्ति होगी। देखने के लिए शक्ति मिली है, तो कोई दृश्य हो, तभी न उसकी पूर्ति होगी! सुनने के लिए शक्ति मिली है, तो बोलने वाला हो, तभी तो उसकी पूर्ति होगी। जरा सोचिये तो सही, कि आपको कौनसी ऐसी शक्ति मिली है, जिसको आप, बिना दूसरे के सहयोग के, अपने काम में ले सकें? ऐसा हो ही नहीं सकता। इसलिए महानुभाव! जो मिला है, वह दूसरों के लिये है, और जो मौजूद है, वह अपने लिये है।

परन्तु मौजूद का बोध कब होगा? मौजूद का ज्ञान तब होगा, जब मिले हुए से थोड़ी देर के लिये हमारा सम्बन्ध छूटे, मिले हुए से थोड़ी फुर्सत मिले, तब मौजूद का ज्ञान हो। मिले हुए से फुर्सत का अर्थ क्या होगा? जब हम कुछ भी करते हैं-चाहे सोचते हों, या बाहरी काम करते हों, तब हमारा सम्बन्ध मिले हुए के साथ होता है, मौजूद के साथ नहीं होता। जब मिले हुए के द्वारा परिवार की, समाज की और संसार की सेवा ठीक से कर दी जाय, जब सेवा के अन्त में, थोड़ी देर के लिये आपको विश्राम मिलेगा। उस विश्राम-काल में, हम उसके साथ एक हो जायेंगे, जो मौजूद है। तो काम करो, आराम करो, और मस्त रहो यार! पर तुम काम भी नहीं करते हो, और आराम भी नहीं करते हो, बीच में रहते हो।

एक बार एक अच्छे साइंटिस्ट भाई मेरे पास आये। वे जवान थे और नये-नये पढ़कर आये थे। मैं साधू था, और मैं भी जवान था। दोनों में जोश था। उसने कहा, "महाराज! तुम्हारा जो बोलना है, उसे मैं एक इन्जैक्शन में बन्द कर सकता हूँ। तब सब भूल जाओगे।"

मैंने कहा, "बोलना तो बन्द कर सकते हो, मगर मुझसे, मेरा जो ज्ञान है, उसे नहीं छीन सकते, वहाँ तक तुम्हारा इन्जैक्शन नहीं पहुँच सकता।" खैर, वाद-विवाद चलता रहा, पर वह प्रेमयुक्त वाद-विवाद था, कुछ संघर्ष तो था ही नहीं। उसने जब किसी तरह नहीं माना, तब मैंने कहा, "अच्छा, एक बात बताओ, जब तुम कोई काम करते हो भैया! तो तुम्हारा मन किसमें रहता है?" सच्चे साइंटिस्ट बड़ी ईमानदारी से बात करते हैं, गलत तरीके से नहीं करते, धाँधलेबाजी नहीं करते। यह तो उसने मान ही लिया था कि जब मैं काम करता हूँ, तो मेरा मन काम में ही रहता है। तो फिर न करने की स्थिति में वह कहाँ रहता है? अब चुप! न करने की स्थिति में मन का पता ही नहीं था उसे, फिर बताता कहाँ से? उसने कहा-"स्वामी जी, मैं नहीं जानता कि कहाँ रहता है, मगर यह तो मानता हूँ कि कहीं-न-कहीं रहता अवश्य है।" मैंने कहा-"भले आदमी, क्यों नहीं मान लेता कि भगवान् में रहता है?" और मैंने कहा कि जब कुछ नहीं करते, तो तुम उसमें रहते हो, जो मौजूद है। मौजूद का ही नाम भगवान् है। जो मौजूद हो, विद्यमान् हो, जिसका कभी नाश न हो, जो अपने आप पर ही निर्भर हो, जिसको किसी का आश्रय न हो, वही भगवान् है। तो, जब तुम कोई काम करते हो, तो काम में रहते हो, और जब काम से छूटते हो, तो भगवान् में रहते हो; लेकिन तुम्हें इसका पता नहीं रहता।

हमारी यह दशा हो गयी है कि दूसरों के लिए तो कोई काम करते नहीं, अपने ही लिये करते हैं। जो आदमी सब कुछ अपने ही लिए करता है, वह थककर जड़ता में लीन हो जाता है, और जो संसार के लिये काम करता है, वह काम के अन्त में, चेतना में विलीन होता है, उसकी जाग्रत-सुषुप्ति हो जाती है, जड़-सुषुप्ति नहीं होती। इसलिए, महानुभाव! आप इतने सुन्दर हैं कि सही काम करके परिवार के और संसार के काम आ सकते हैं। और आराम करके अपने काम आ सकते हैं। इतने सुन्दर हैं आप! लेकिन आप तो सही काम करते ही नहीं हैं। और जो भी करते हैं, वह क्या समाज के लिए करते हैं? देखिये, एक समय था जब आदमी काम करने से पहले यह सोचता था कि मैं जो काम करने जा रहा हूँ, उससे किसका क्या लाभ होगा! यह सोचता था। तब उसको काम करने के अन्त में आराम मिलता था, और आराम मिलने के बाद, वह अविनाशी जीवन के साथ, स्वाधीन जीवन के साथ, रसरूप जीवन के साथ एक हो जाता था।

किन्तु आज हमारी दशा वस्तुत: बिलकुल भिन्न है। एक साधु ने पूछा कि भजन करने से क्या लाभ होता है? मैंने कहा, "यह तो बनिया सोचता है।" बुरा न मानें, यदि यहाँ पर कोई बनिया हो तो। बहुत पुरानी कथा है। प्रह्लाद से जब भगवान् नरसिंह ने पूछा कि तुम क्या चाहते हो? प्रह्लाद ने कहा कि क्या मैं बनिया हूँ, जो कुछ चाहूँ? यह तो बहुत पुरानी किंवदन्ती है। तो मैं यह निवेदन कर रहा हूँ कि आपको लाभ काम करने में नहीं, आराम में है। और आराम काम किये बिना मिल नहीं सकता। अत: किसी तरह सही काम करना आपके लिये जरूरी हो गया, और सही काम करने का अर्थ ही होता है कि जिस-जिस काम को आप करते हैं, उससे किसी दूसरे की माँग पूरी होनी चाहिये। जैसे, अपनी जगह कोई ठीक प्रोफेसर है, तो उसके द्वारा विद्यार्थी की माँग पूरी होनी चाहिये। माँग, कौनसी माँग? अध्ययन की, न कि यह कि इम्तिहान् में नम्बर बढ़ा दिये जायें। यह नहीं कि परीक्षा में हमें नकल करने का अवसर दे दिया जाय, अन्यथा हम मार डालेंगे। यह नहीं कि बाबूजी, "पता लगाइये कि हमारा जो पर्चा खराब हो गया है, वह जाँच के लिये किसके पास गया है?" ऐसा नहीं। तो, काम किया जाता है दूसरों के लिये, और दूसरों के लिए काम करने का फल यह होता है कि आप काम-रहित हो जाते हैं, काम-रहित। आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान वेत्ता कहते हैं कि कोई काम-रहित होता ही नहीं है। ऐसा मानना बिलकुल भ्रम है। परन्तु मैं कहता हूँ कि ऐसा ही होता है। काम-रहित होने से आप अपने में, अपने राम को पाते हैं। अपने में अपने राम को पाना, और संसार के लिए

सही काम करना। यदि वास्तव में यह आपको जँच जाय, रुच जाय, पसंद आ जाय, तो आप अपने में इतने सुन्दर हो जायेंगे कि संसार आपकी आवश्यकता अनुभव करेगा। आपको अपने लिए संसार की आवश्यकता नहीं रहेगी। यहीं से मानव-जीवन का आरम्भ होता है।

हम सब संसार की आवश्यकता अनुभव करते हुए पैदा हुये, अनुभव करते हुए ही जिये और अनुभव करते-करते ही मर गये। अन्त क्या हुआ? कुछ नहीं, जहाँ के तहाँ रहे। यह नवजात शिशु भी अनुभव करता है, जवान भी अनुभव करता है, बूढ़े भी अनुभव करते हैं, और मरने पर भी अनुभव करते हैं। तो रहे क्या ? जैसे के तैसे। जैसी बेबसी लेकर आये, वैसी ही बेबसी लेकर जिये, और वैसी ही बेबसी लेकर मर गये। इसलिए, महानुभाव! गम्भीरता से विचार कीजिए। हम पराधीनता लेकर आये हैं, बेबसी लेकर आये हैं; लेकिन विवश होकर जायेंगे नहीं। हम विवश होकर मरेंगे नहीं। रोते हुये पैदा हुये हैं, और हँसते हुए मरेंगे। हम पराधीनता को लेकर पैदा हुए हैं, और स्वाधीन होकर मरेंगे। जड़ता में बँधे हुए पैदा हुये हैं, पर चेतन होकर मरेंगे। अगर इस प्रकार का दृष्टिकोण आपका बन जाय, और इस प्रकार की जरूरत आप अनुभव करें, तभी महानुभाव! ऐसा होना सम्भव है। आप इतने सुन्दर हैं-इतने सुन्दर हैं कि सारा संसार आपकी जरूरत अनुभव करेगा। परमात्मा को आप प्यारे लगेंगे, और आप अपने में ही—अपने बाहर नहीं—सारे विश्व को और विश्वनाथ को पा जायेंगे। परन्तु कब? जब 'मानव' होंगे तब। जो ज्ञान का प्रकाश आपमें है, जो आस्था का तत्त्व आपमें है, जो बल का तत्त्व आपमें है—इन तीनों तत्त्वों के उपयोग में आपका अधिकार है। बल का उपयोग दूसरों के लिये है, ज्ञान का उपयोग अपने लिए है, और प्रेम का उपयोग परमात्मा के लिये है। बल के द्वारा आप संसार के काम आ सकते हैं, ज्ञान के द्वारा अपने काम आ सकते हैं और प्रेम के द्वारा परमात्मा के काम आ सकते हैं। अब आप सोचिये, कि आप कितने सुन्दर हैं, कि जगत् के काम आयें, अपने काम आयें, और प्रभु के काम आयें।

प्राप्त के सदुपयोग का महत्त्व—2

हमारी वर्तमान दशा तो यह है कि पूरे जीवन भर हम सभी झूठे स्वार्थ की पूर्ति में दूसरों से माँगते ही रहे हैं। बचपन में यह आशा रही कि मैया कुछ दे दें, बाप कुछ दे दें। बड़े हुए तो यार दोस्त कुछ दे दें, सभी कुछ दे दें, स्त्री दे दें। यानी शुरू से लेकर अन्त तक ये दे दें—वे दे दें—हमने यही

पसन्द किया। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि हम सदा अभावग्रस्त ही बने रहे।

विचार करके देखने पर वास्तविकता स्पष्ट हो जायेगी कि सब जगह ही अभाव है। हमने तो महाराज! करोड़पतियों तक को देखा है, गरीबों को भी देखा है। और हमसे अगर कोई पूछे, तो हम कहेंगे कि करोड़पति भी धन चाहता है और गरीब भी धन चाहता है। फिर दोनों में अन्तर क्या पड़ा? आप सोचिये तो सही, एक पढ़ा-लिखा भी बे-पढ़े के समान भिखारी बना बैठा है, तो अन्तर क्या पड़ा? सोचिये, एक पढ़ा-लिखा भी बे-पढ़े के समान जड़-बुद्धि लिये बैठा है, तो अन्तर क्या पड़ा? इन दोनों में कुछ अन्तर होना चाहिए न। आप धीरजपूर्वक जरा सोचें तो सही। अभी बोलता हूँ, तो मालूम होता है, जीवन है। नहीं बोलूँगा तब? नहीं बोलने की स्थिति में भी जीवन है। इस बात का जब आपको बोध हो जाय, तब न आप अभय होंगे।

एक बार सन् 1958 में मथुरा से मैं पटना आ रहा था। तारीख मुझे ठीक याद है—20 दिसम्बर थी। 29 नवम्बर को, 3 दिसम्बर को, और 4 दिसम्बर को मुझे हार्ट—अटैक हो चुका था। 29 नवम्बर को हुआ जयपुर में, और 3 और 4 दिसम्बर को बम्बई में। मैंने समझा ही नहीं कि हार्ट—अटैक हुआ है। जयपुर में अटैक होने पर मैं मीरा का पद सुनते-सुनते सो गया। सो कर उठने पर चल दिया अहमदाबाद को। हार्ट स्पेशलिस्ट ने बताया कि 'कार्डियक-एस्थमा' है। अस्पताल में भर्ती करा दिया गया, परन्तु मुझको अस्पताल में जाना अच्छा नहीं लगा। अत: मैं अपने मित्र के घर आ गया। और यहाँ पर तो भागवत भाई मौजूद ही थे। बड़े दिन के अवकाश में यहाँ पर मानव-सेवा-संघ का सत्संग-समारोह का आयोजन था। ट्रेन में बैठा हुआ सो गया। कुँवर हनुमन्त सिंह जी मेरे साथ थे। फर्स्ट क्लास में बैठा हुआ था। मैंने स्वप्न देखा कि मैं बोलना चाहता हूँ, पर बोल नहीं पाता हूँ। हाथ उठाना चाहता हूँ—यह जताने के लिए कि आवाज नहीं निकलती—तो हाथ भी नहीं उठता। पैर हिलाकर दूसरे को जगाना चाहता हूँ, तो वह भी नहीं हिलता। यानी जो कुछ भी करना चाहता हूँ, वह नहीं होता। कर्म का सम्बन्ध तो हम अपने साथ जोड़ देते हैं, और ज्ञान से दूसरों को समझाते हैं। ये दोनों ही बातें गलत हैं। कर्म का सम्बन्ध दूसरों के साथ जोड़ना चाहिये और ज्ञान का अपने से। जब कुछ सोचो, तो दूसरों के हित को लेकर सोचो। इसका अर्थ यह न समझ लेना कि आप मेरे लिये सोचें। और जिससे किसी को हानि पहुँचती हो, वह न करें। यानी बुराई करना छोड़ दें। जी चाहे, तो उसके साथ भलाई करें। भलाई करने में अगर आपको दु:ख होता हो, तकलीफ होती हो, तो आप भलाई न

करें। इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं होगी। इससे न आपका कुछ बिगड़ता है, और न संसार का। संसार का बिगड़ता है बुराई करने से। जो मनुष्य बुराई करना छोड़ देता है, वह संसार के लिये बहुत अच्छा हो जाता है। संसार उसको पसन्द कर लेता है। और भलाई अगर उसने कर दी, तो संसार उसकी पूजा करने लगता है। इतना सुन्दर यह संसार है कि वह बुराई-रहित को बहुत पसन्द करता है, और भलाई करने वाले की तो पूजा ही करता है।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि करने का सम्बन्ध दूसरों के साथ है। और सही करना आपको तभी आयेगा, जब आप ईमानदारी से अपनी जानी हुई बुराई से छूट जायें। न किसी का बुरा चाहें, न किसी को बुरा समझें, और न किसी के साथ बुराई करें। इसमें कुछ धन व्यय नहीं होगा, शरीर का बल नहीं लगेगा, आपकी योग्यता खर्च नहीं होगी। प्रकृति के विधान के अनुसार आप दूसरों के लिए जो करेंगे, उसके कई गुना अधिक आपके साथ हो जायेगा।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि बुराई न करना संसार की सबसे बड़ी सेवा है। और यह क्रान्ति हर भाई के जीवन में, हर बहन के जीवन में आनी चाहिये। देखिये, समाजवाद क्या है? समाज की जरूरत में भाग लेना, न कि समाज को अपनी खुराक बनाना। वह तो बदतमीजीवाद है, समाजवाद नहीं है। समाजवाद का अर्थ है कि समाज की जो जरूरत दिखाई देती हो, उसको पूरा करने में अपने को लगा दो। यह नहीं, कि किसी का धन छीनो, और किसी को बाँट दो और स्वयं लीडर बनकर मौज करो।

एक बार एक कम्यूनिस्ट भाई हमारे पास आये—ये अच्छे आदमी थे—सचमुच ये अच्छे आदमी थे। उनका दिल बड़ा था, जीवन सुन्दर था। उनमें चेतना थी। कहने लगे, स्वामी जी, हमें कुछ बात बताओ। हमने कहा कि तुम्हारे जैसे आदमी को, जो मुझे 20 वर्ष पढ़ाये, उसे मैं क्या बताऊँगा? बोले, "क्या?" मैंने कहा, "दूसरे का सुख बरदाश्त कर लो।" इतना कहना भर था कि वे एक दम बिगड़ गये। बोले, "स्वामी जी! आप मेरे जोश को 'पैरालाइज' करना चाहते हैं।" मैंने कहा, "अरे नहीं भाई, तुम्हारे जोश को होश में लाना चाहता हूँ।"

एक बार ट्रेन में एक भाई बात करने लगे, उतरे तो परिचय दिया। उसने कहा, "स्वामी जी, सम्पत्ति का विभाजन बहुत जरूरी है।" मैंने कहा, "अरे, यह मजदूर का नेता टेलीफोन से बात करता है, कार में चलता है, प्लेन में उड़ता है और फिर भी लीडर मजदूर का! लीडरी तो मजदूर की, और उड़े आसमान में।" तो भैया, समाजवाद का यह अर्थ नहीं है। उसका अर्थ है,

समाज के काम आना। आज के मजदूर को इतना गलत कर दिया है, उसके दिमाग में ऐसा भर दिया है कि बैठे रहो, काम मत करो। मिलओनर मान लो, पहले से गलत था, इन मजदूरों के बिगड़ जाने से कौन-सी भलाई होगी? मैं आपसे पूछता हूँ कि काम न करने से देश में गरीबी आयेगी या अमीरी बढ़ेगी? इसलिये मैं कहता हूँ कि ठण्डे दिल से विचार करो, और समझो कि जीवन में क्रान्ति आनी चाहिये। और क्रान्ति इस विचार को लेकर आनी चाहिये कि हम बुराई नहीं करेंगे, हमें बुराई करने का अधिकार नहीं है। इतने से ही आपका जीवन समाज के लिए उपयोगी हो जायगा। और आगे बढ़ना चाहें, तो मिले हुए बल के द्वारा भलाई करें, मिले हुए ज्ञान के द्वारा स्वाधीन हो जायें, मिली हुई आस्था के द्वारा प्रेमी हो जायें।

मैं आपका समय ज्यादा नहीं लेना चाहता हूँ। मेरा तो सिर्फ यही कहना है कि अगर इस तरह की क्रान्ति आप अपने में नहीं लाना चाहेंगे और औरों के सुधार की बात ही करते रहेंगे, तो समाज का प्रत्येक वर्ग गिरता ही जायेगा। देखिये न, कितना दु:ख लगता है, आज के विद्यार्थी समाज की दशा पर। हम बच्चों से क्या सुनते हैं? हमारे आश्रम की हमारी बेटी परीक्षा देने गई। परीक्षा देकर आयी तो कहा, "स्वामी जी! बड़ा अच्छा परचा था, क्योंकि बहुत हल्का था।" और एक जमाना था, तब हम क्या सुनते थे? अपने बचपन में हम क्या सुनते थे? इम्तिहान् में 12 सवाल हैं, इनमें से छ: सवाल हल कर लो। विद्यार्थी लिखते—इनमें से कोई देख लो। आप सोचिये, आप विचार कीजिये, कहाँ हमारी योग्यता यह थी और आज यह है। हमें योग्यता आनी चाहिये थी। और कहाँ हमारा स्तर यह हो गया है, कि सब पर्चे आसान हों और नकल करने की छूट मिल जाय, तो और भी आसानी हो जाय। इम्तिहान् के दिन आगे हट जायें, तो और अच्छा हो। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि यह कौन-सा वाद है? यह भौतिकवाद है, या भूलवाद? भौतिकवाद तो है नहीं। भैया, भौतिकवाद का अर्थ है, अपनी सुन्दरता से संसार को सुन्दर बनाना, अपने बल से संसार के काम आना—यह तो भौतिकवाद में हमने सुना था। ज्ञान से युक्त होकर, अप्रयत्न होकर मुक्त हो जाना- यह तो मैंने अध्यात्मवाद में सुना था। और आस्थापूर्वक आत्मीय सम्बन्ध से प्रभु के प्रेम से भरपूर हो जाना—आस्तिकवाद। स्वाधीन हो जाना—अध्यात्मवाद, और उदार हो जाना—भौतिकवाद है। परन्तु आज जो चल रहा है, वह कौन-सा वाद है? यह हमारी समझ में नहीं आता। इसलिए महानुभाव! मानव होने के नाते आपको इस पर सोचना होगा, इस वास्तविकता पर विचार करना होगा, क्रान्ति

लाना होगा। आपको ऐसे वाद पर गौरव होना चाहिये कि हम बुराई-रहित हो गये। आपको यह गौरव होना चाहिए कि हम प्रेमी हो गये। और अगर यह सत्य आपको जँच जाय, पसन्द आ जाय, तो अपना लीजिये इसे। आपका बेड़ा पार हो जायगा। न जँचे, न रुचे, तो कोई नई हानि नहीं होगी। जो सर्वनाश कर रहे हो, वैसा ही होता रहेगा, कोई नई आपत्ति नहीं आ जायेगी। परन्तु बहुत दिन हो गये दूसरों के कर्त्तव्य को देखते-देखते, और अपने कर्त्तव्य को भूलते-भूलते। यदि यही क्रम चालू रहा, तो सच मानिये, जीवन में क्रान्ति नहीं आयेगी। तब आप कहेंगे कि मैं क्या जानता हूँ? समाज जो करता है, उसे समाज जानता है, और मैं जो करता हूँ, उसे मैं जानता हूँ। हर भाई, हर बहन को इस बात का गौरव होना चाहिये कि मैंने भलाई नहीं की, तो नहीं की; पर मैंने अपने जानते हुए, कोई बुराई तो नहीं की; और की हुई बुराई को सदा के लिये छोड़ देने का निर्णय किया। बुराई-रहित होना जरूरी है। स्वाधीन होना जरूरी है। प्रेमी होना जरूरी है। सच मानिये, अगर आप अपने काम के रहेंगे, और संसार के काम के रहेंगे, तो ठीक है। नहीं तो, बड़ी बेबसी में, बड़ी लाचारी के साथ एक दिन मर जायेंगे।

प्रकृति के विधान पर आप विजयी नहीं हो सकते। प्रकृति का विधान है कि आप अगर बुराई-रहित नहीं होते हैं, तो संसार आपको बिलकुल पसन्द नहीं करेगा। प्रकृति का विधान है कि अगर आप स्वाधीन नहीं हो सकते हैं, तो आप अपने काम आ ही नहीं सकते। प्रकृति का विधान है कि अगर आप प्रेमी भी नहीं हो सकते हैं, तो आप प्रभु को पा ही नहीं सकते। इसलिये प्रेमी होना—प्रभु के लिये, स्वाधीन होना—अपने लिये और उदार होना—जगत् के लिये है। यही जीवन का सत्य है। और इसको अपनाये बिना आपकी, मेरी, किसी की भी कभी कोई भलाई नहीं हो सकती। भले ही थोड़ी देर के लिये मन को समझाते रहिये।

एक बार एक डाकू हमसे बातें कर रहा था। उसने अपनी दशा बताई। उसने कहा, "स्वामी जी, जब हम डाका डालने जाते हैं, तब जब तक हम लोग ठीक स्थान पर पहुँच नहीं जाते हैं, तब तक बड़ी परेशानी दिमाग में रहती है। और ठीक जगह पर पहुँचने पर हम सोचते हैं कि हमारा ही राज्य है। और फिर जब डाका डालकर आते हैं, तब कुछ दिन तक और परेशानी रहती है कि सामान को छिपायें कैसे? सस्ता बिके, तब न खाना मिले।" देखिये, डाकुओं का माल आधे दाम में ले लो, और उनको खाने-पीने का माल दूने दामों पर दे दो। अरे! हमने, जेल में जिसको तिकड़म कहते हैं, देखी है। जेल की चीजें जेल के अंदर आधे दाम पर ले लो, और बाहर चीजें

दुगने दामों पर। अगर मनुष्य यही सोचता रहे कि हमें बुराई-रहित नहीं होना चाहिये, तो उसका विकास नहीं होगा। इसलिये महानुभाव! जानी हुई, की हुई बुराई को छोड़ दो, स्वाधीन हो जाओगे। बुराई छोड़ने से मनुष्य शान्त हो जाता है, भलाई का अभिमान एवं फल छोड़ने से स्वाधीन हो जाता है, स्वाधीन होकर स्वत: उदार और प्रेमी होता है। जो स्वतन्त्र होता है, वही स्वत: उदार और प्रेमी होता है। आप भी स्वतन्त्र होकर, उदार और प्रेमी हो सकते हैं। यह आपका जीवन है। यह आपकी महिमा है कि उदार होकर जगत् के काम, और प्रेमी होकर प्रभु के काम आयें। अगर यह सत्य आपको जँचे, रुचे, तो आप इसे अमल में लायें। अगर नहीं रुचे, जँचे, तो न लायें। इससे किसी को कोई नई हानि नहीं होगी।

सच्ची असमर्थता-जीवन का वरदान

यह अनन्त का मंगलमय विधान है कि सर्व-समर्थ असमर्थ को मिलते हैं, अपनाते हैं और अपना मुनि-दुर्लभ प्रेम प्रदान करते हैं। पर यह रहस्य उन्हीं साधकों को स्पष्ट होता है, जिन्होंने अपने द्वारा अपनी असमर्थता का अनुभव किया है। अब विचार यह करना है कि असमर्थता क्या है? पराश्रय के आधार पर अपने को सन्तोष देना, बड़ी भारी असमर्थता है। इसी असमर्थता ने, जो अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं, समर्थ हैं, उनमें अविचल आस्था नहीं होने दी।

विचार उस पर किया जा सकता है, जो बुद्धि की सीमा में है। जो बुद्धि की सीमा में है, वह सीमित है, परिवर्तनशील है, और अभाव रूप है। इसे सभी विवेकीजन जानते हैं। जो सदैव है, अनन्त है, असीम है, उसमें ही आस्था हो सकती है। इस दृष्टि से आस्था एक स्वतन्त्र पथ है। पर इस पथ पर वे ही चल पाते हैं, जो असमर्थता से पीड़ित हैं। अपनी असमर्थता का अनुभव मानव का सर्वोत्कृष्ट अनुभव है। मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग भौतिक विकास में हेतु है, अर्थात् उससे आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे मिलती है। सामर्थ्य का सदुपयोग विश्व-शान्ति का मूल-मंत्र है। वह भी तब, जब निरभिमानतापूर्वक किया जाय। यह सभी को मान्य होगा कि मिला हुआ किसी का दिया हुआ होता है। जिसने सभी को सामर्थ्य दी, वही सर्व-समर्थ है। सामर्थ्य के सदुपयोग से सामर्थ्य मिलती है। यह वैधानिक तथ्य है। यह विधान जिन विधायक का है, 'वे' यद्यपि सभी के अपने हैं, परन्तु उनको अपना मानना वास्तविक असमर्थता का अनुभव होने पर ही होता है।

किसी मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के आधार पर सर्व-समर्थ से आत्मीय सम्बन्ध सम्भव नहीं है। तभी वे सभी के अपने हैं। जो सभी के अपने हैं, वे ही सर्व-समर्थ हैं। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग उन्हीं के नाते, विश्व-वाटिका की सेवा में है। वह सेवा भी वही कर पाता है, जो उस वाटिका के फल नहीं खाता। ऐसे समर्थ साधक उस अनन्त के साम्राज्य में प्रवेश पाते हैं। किन्तु जो साधक असमर्थता से पीड़ित है, उसे वे स्वयं आकर अपनाते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है।

मानव-जीवन में जो करने की बात है, वह उसके ज्ञान के अनुरूप होनी चाहिये। ज्ञान-विरोधी कार्य अकर्त्तव्य है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को जन्मजात प्राप्त है। पर मानव अपनी ही भूल से कर्त्तव्य से विमुख होकर अकर्त्तव्य में आबद्ध हो जाता है। भूल कोई प्राकृतिक पदार्थ नहीं है और न प्रभु-प्रदत्त है। मानव ने मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग के द्वारा अपने में भूल उत्पन्न की है और फिर वह स्वयं उसके अधीन हो गया है। यद्यपि स्वभाव से उसे स्वाधीनता ही प्रिय है, किन्तु अपनी भूल के अधीन होने से अनेक प्रकार की बेबसी अनुभव करता है। मानव जगत् के प्रति उदार, अपने लिए स्वाधीन और प्रभु के लिए प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करता है। भूल-जनित आसक्तियों में आबद्ध हो जाने से उदारता, स्वाधीनता, और प्रेम से विमुख हो गया है।

जिन्होंने मानव का निर्माण किया है, वे कभी मानव से विमुख नहीं होते, अपितु अपने दुलारे मानव को निरन्तर देखते रहते हैं और प्रतीक्षा करते हैं कि कब मेरा मानव असमर्थता का अनुभव करे और मैं उसे अपना लूँ! असमर्थता का अनुभव होने पर जो वेदना उत्पन्न होती है, वह करुणामय से सही नहीं जा सकती और वे मानव को उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम प्रदान कर देते हैं, जो उनका सहज स्वभाव है।

वे कितने उदार हैं, इसका वर्णन किसी भाषा-द्वारा सम्भव नहीं है। जो उन्हें नहीं मानते, उनके लिए भी उनकी करुणा उतनी ही है, जितनी उनके लिए, जो मानते हैं। उनको मानना तो एक साधन रूप सत्य है; किन्तु न मानने पर भी वे सभी के अपने हैं। इस वास्तविकता का अनुभव उन्हीं साधकों को होता है, जो यह भली-भाँति जानते हैं कि व्यक्ति का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य में आस्था करते हैं, जो उन्हीं की दी हुई है। यहाँ तक कि साधन-सामग्री भी साध्य की दी हुई है। साधक मिले हुए का सदुपयोग करता है, जिसकी

स्वाधीनता उसे जन्म-जात प्राप्त है। यह जानते हुए भी कि मिले हुए पर अपना सदा के लिए स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, यदि वह उसे अपना मान लेता है, उसमें विश्वास कर लेता है, तो उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि जिस तन-धन, परिस्थिति, अवस्था आदि पर विश्वास करता है, वे सब नहीं रहते; किन्तु मोह, लोभ, विषमता (दीनता और अभिमान) और परिच्छिन्नता आदि विकारों में मानव अपने को बाँध लेता है। उस दशा में भी जब मानव यह अनुभव करता है कि मुझे अब निर्विकार, स्वाधीन एवं परम प्रेम से परिपूर्ण जीवन चाहिये, तो करुणामय उसे वह जीवन प्रदान करते हैं; क्योंकि असमर्थ और सर्व-समर्थ का नित्य सम्बन्ध है। मिली हुई सामर्थ्य के अभिमान ने ही हमें सर्व-समर्थ से विमुख किया है। कोई भी सजग मानव यह सिद्ध नहीं कर सकता कि जिसने जो कुछ किया वह अपने द्वारा किया। कर्म के क्षेत्र में मिले हुए का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग ही मानव कर सकता है। मानव-जीवन में पुरुषार्थ का प्रश्न मानव-जीवन मिलने पर होता है, उससे पूर्व नहीं। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मानव होना मानव के पुरुषार्थ का फल नहीं है। मानव के निर्माता ने मानव का निर्माण किसी से शासित रहने के लिए नहीं किया, अपितु मानव स्वाधीनतापूर्वक उदारता एवं प्रेम से परिपूर्ण रह सकता है। और उसकी माँग जगत् को सदैव रहती है और उसे अपने लिए जगत् की माँग नहीं रहती। इतना ही नहीं, रचयिता स्वयं उसी के द्वारा प्रेम के आदान-प्रदान का रसपान करते हैं। यह विशेषता मानव को अपने प्राणाधार, प्रेमास्पद, जीवनाधार से मिली है। मानव का निर्माण विधाता ने अपने में से अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर किया है। इस दृष्टि से मानव की उनसे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता है। जिनसे आत्मीयता है, उनकी विस्मृति अपनी ही भूल से होती है; परन्तु वे कभी-भी मानव को नहीं भूलते। उनकी दृष्टि मानव पर निरन्तर रहती है। कहाँ तक कहा जाय! जब मानव भूलजनित सुख-लोलुपता को भी पसन्द करता है, तो वे ही करुणामय दु:ख का वेश बनाकर अपने प्यारे मानव को अपनाने के लिए विवश होते हैं। दु:ख के प्रभाव से सुख-लोलुपता सदा के लिए चली जाती है और फिर दुखी और दु:खहारी का रसरूप मिलन होता है और फिर सदा के लिए सर्व दु:खों की निवृत्ति हो जाती है। सजग मानव सर्व दु:खों की निवृत्ति होने पर भी जब सन्तुष्ट नहीं होते, तब करुणामय उसे अविनाशी, स्वाधीन जीवन प्रदान करते हैं। यह वर्तमान जीवन उसी समय तक भाता है, जिस समय तक पराधीनता और मृत्यु का प्रभाव आंशिक रूप में जीवित है।

सर्वांश में मृत्यु का भय और पराधीनता का प्रभाव नष्ट होने पर अविनाशी, स्वाधीन जीवन भी प्रेमास्पद के पवित्र प्रेम के बिना अधूरा ही मालूम होता है। यह माँग उदित होते ही प्रेमास्पद अपना प्रेम प्रदान कर, प्रेमियों को अपनाते हैं और प्रेमी और प्रेमास्पद का नित्य-विहार अविराम होता ही रहता है; क्योंकि प्रेम-तत्त्व क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित है। प्रेम वह प्यास है, जो कभी बुझती ही नहीं और प्रेम वह जल है, जो कभी घटता नहीं। इस दृष्टि से अगाध अनन्त रस प्रेम के ही साम्राज्य में है, जिसकी माँग प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों में ही है। प्रेम का रस पाने के लिए ही प्रेमास्पद अपने में से ही मानव का निर्माण करते हैं।

यह सर्वमान्य सत्य है कि व्यक्ति में व्यक्तिगत कुछ नहीं है। उसे जो कुछ मिला हुआ मालूम होता है, वह जगत् और जगदाधार का ही है। जब अपने में अपना कुछ नहीं है, तो फिर इससे बढ़कर असमर्थता ही क्या हो सकती है? और व्यक्ति कर ही क्या सकता है? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता। जब मानव कुछ नहीं कर सकता, तो बुराई की उत्पत्ति ही नहीं होती। बुराई-रहित होते ही भलाई अपने आप होने लगती है; किन्तु उसका अभिमान नहीं होता। भलाई का अभिमान तो बुराई को जन्म देता है। असमर्थता का अनुभव मानव को बुराई-रहित कर, भलाई के अभिमान से मुक्त कर देता है और फिर सर्व-समर्थ का प्रेम होकर असमर्थ मानव जगत् और जगदाधार के लिए उपयोगी हो जाता है। इस दृष्टि से वास्तविक असमर्थता का अनुभव करने में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। वह तभी सम्भव होगा, जब मानव जाने हुए असत् का त्याग कर, सत् को स्वीकार करे। 'कुछ नहीं' और 'सब कुछ' में कभी वियोग नहीं होता। किन्तु प्रेमास्वादन के लिए मिलन में वियोग और वियोग में मिलन की भावना अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वत: होती रहती है। रसरूप जीवन की माँग ही मानव की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

संसार में मेरा कुछ नहीं, प्रभु ही अपने हैं

'सब कुछ' का अर्थ क्या है? सब कुछ का अर्थ होता है, जिसे पा करके, कुछ पाना शेष न रहे। 'कुछ' का अर्थ ही होता है, कुछ और चाहिये। 'कुछ' निर्जीव होता है। कुछ नहीं है, तो कुछ नहीं चाहिये और 'सब कुछ' है, उसे भी कुछ नहीं चाहिये। लेकिन जिसके पास कुछ है, वह कभी भी नहीं कह सकता कि उसे कुछ नहीं चाहिये। अपने पास अपना कहकर कुछ न रखो, चाहे जगत् का मानो, चाहे परमात्मा का मानो; हमारा कुछ नहीं है। परमात्मा की वस्तु तथा जगत् की वस्तु का दुरुपयोग न करो।

यदि तुम्हें अपने पास जो कुछ मालूम होता है, तो तुम उस पर भगवान् की सील लगा दो। तन भगवान् का, मन भगवान् का, प्राण भगवान् का, वस्तु भगवान् की। इस प्रकार तन, मन, धन—सब भगवान् का, यदि आप प्रभु विश्वासी हैं, तो। अथवा जिसका भगवान् पर विश्वास न हो, वह सभी चीजें जगत् की मान ले। और जो भौतिकवादी अथवा भगवान्वादी नहीं, उसे सभी चीजें माया-मात्र मान लेनी चाहियें। या भ्रम, कल्पित-भ्रम कहिए। जैसे, मृग तृष्णा में जल नहीं है। इन तीनों दृष्टियों में से कोई एक दृष्टि मान लो—संसार का है, तो मेरा नहीं; परमात्मा का है, तो मेरा नहीं, और माया-मात्र है, तो मेरा नहीं है।

परमात्मा अभी है, अद्वितीय है, अपने में है। तो, जो अपना प्रभु है, वह अपने में है, अपना अपने से अलग नहीं होता। परमात्मा की प्राप्ति का इससे कोई सुन्दर उपाय नहीं हो सकता। अपना है, अपने में है, अभी है—ऐसा मानने में निश्चिन्तता, प्रियता और निर्भयता आयेगी। यह साधना है और इसको अपनाने वाला साधक है। सर्व-समर्थ प्रभु जब अपने हैं, तो फिर काहे का भय, काहे की चिन्ता और काहे की खिन्नता? ऐसा मान लेने पर हम निश्चिन्त होकर, निर्भय होकर विश्राम प्राप्त कर लेते हैं। विश्राम का अर्थ होता है कि हमें अपने लिये कुछ नहीं करना है, न कुछ पाना है। इस विश्राम में अनन्त शक्ति है, चिन्मयता है, वह रसरूप जीवन है। परन्तु कितने दुःख की बात है कि जब हमें विश्राम मिल सकता है, विश्राम में अनन्त आनन्द है, रसरूप, चिन्मय जीवन है, तब उसे तो हम छोड़ देते हैं और जो सदैव नहीं है, सर्वत्र नहीं है, और सभी के लिये नहीं है, उसके पीछे दौड़ते हैं। हम कहते हैं-हाय-हाय! शरीर का नाश हो गया या नाश हो जायेगा या नाश हो रहा है। विधान यह है कि जो हमसे कभी भी अलग हो सकता है, वह अभी भी अलग है, और जो अलग नहीं है, वह कभी भी अलग नहीं है।

जिसका नाश हो जायगा, वह परमात्मा नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मा के अतिरिक्त न कोई हमारा है, न कोई हमारा हो सकता है, संसार परमात्मा का है। और जब आप संसार को परमात्मा का मान लेते हैं और परमात्मा को अपना मान लेते हैं, तब अपने प्यारे की चीज, क्या प्यारी नहीं लगेगी?

संसार परमात्मा का बनाया हुआ है, इसलिये संसार हमारे प्रिय का है और इसलिये प्यारा लगेगा। लेकिन संसार हमारा नहीं, प्रभु का है, प्रभु हमारा है। इसी बात को जीवन में सदा बनाये रखने के लिये कहा गया है-'मेरे नाथ!' 'मेरे नाथ!' इसलिये कहा, क्योंकि प्रभु हमारा है, इसलिये 'मेरे' कहा। और प्रभु सर्वत्र है, समर्थ है, इसलिये 'नाथ' कहा। अन्य किसी शब्द के द्वारा परमात्मा को कहना चाहो, तो 'मेरे नाथ' से सुन्दर शब्द अपनी भाषा में नहीं है। दूसरी किसी भाषा में हो, तो आप ही बताइए? हमें तो मिला नहीं, आपको मिला हो, तो उसके विषय में मुझे मालूम नहीं।

इस प्रकार हमने शास्त्र-वाणी, वेद-वाणी, भक्त-वाणी से सुन लिया कि प्रभु अपने हैं, समर्थ हैं, रक्षक हैं—इन तीनों वाक्यों को सूक्ष्म करें, तो यही कहें—'मेरो नाथ', 'मेरे नाथ', 'मेरे नाथ'।

हम सनाथ हैं, हमारा समर्थ रक्षक है, सदैव है, सर्वत्र है, अपने ही में है—ऐसा मानकर हम शान्त हो जायें। शान्त होने पर मन में जो उथल-पुथल मचे—यदि बुरे ख्याल उठें, तो उनसे लड़ें नहीं, उनको नापसन्द करें, बस। जैसे, हम किसी को बुरा समझते हैं, तो बुरा न समझें, या किसी से आशा करते हैं, तो कहें—हम किसी से आशा नहीं करेंगे। नापसन्द करने का अर्थ यह होता है कि उन ख्यालों का हमारे लिये कोई अस्तित्व नहीं है। और धीरे से कहें-'मेरे नाथ' 'मेरे नाथ'। शान्त रहने से चिर-विश्राम में प्रवेश होगा और विश्राम में प्रवेश होने से प्रभु प्राप्त होंगे, आनन्दमय जीवन की प्राप्ति होगी। दोनों से प्रभु प्राप्त होंगे, अनुपम रस मिलेगा।

यदि मनुष्य को अपार आनन्द मिल जाय, तो जीवन में कुछ इच्छा रहेगी क्या? मुझे वह नहीं चाहिये, जो मुझमें नहीं है, मेरा नहीं है, सदा नहीं है। फिर बताओ, संसार में कौन-सी चीज सदा है? अपने को आनन्द मिले, सभी को आनन्द मिले। सबमें हम भी आ गये। हम को सुख मिले, पड़ोसी को दु:ख मिले, तो क्या पड़ोसी का दु:ख कालान्तर में हमारी छाती पर सवार न हो जायेगा? जैसे, मोहल्ले में आग लग जाय, तो क्या हमारा घर बच जायेगा।

तो, हमें वह नहीं चाहिये, जो परम स्वतन्त्र, उदार, प्रेम से परिपूर्ण नहीं है। जो हममें है, वही उदार व स्वतन्त्र है, सदा है, प्रेम से परिपूर्ण है। यह

प्रभु-विश्वासी शरणागत सन्तों का अनुभव है। हमें उनके अनुभव से लाभ उठाना चाहिये। जो आनन्द रूप है, रस रूप है, वह परमात्मा अपने में है, अभी है। और यदि ऐसा मान लेते हैं, तो आप बड़ी सुगमतापूर्वक सदा-सदा के लिये निश्चिन्त हो जाते हैं, निर्भय हो जाते हैं और स्वभाव से अपने में अपनी प्रियता उदय हो जाती है। इतने पर भी न रहा जाये, तो कहो—'मेरे नाथ', 'मेरे नाथ', 'मेरे नाथ'। यदि निश्चिन्तता और प्रियता प्राप्त हो जाती है, तो अपने को अपने की स्मृति होती है। अपना अपने को प्यारा लगता है। जिसको अपना नहीं माना हो, वह क्या कभी प्यारा लगा है? प्यार अपना मानने से ही पैदा होता है। अपना प्रिय मान लिया। अपना प्रिय अपने में अभी है—इस विश्वास के बिना कभी भी किसी को परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसी बात को मानने के लिये मानव-सेवा-संघ ने परामर्श दिया है कि प्रभु-विश्वासी को ही प्रभु-प्राप्ति होती है। हमें अचाह होकर शान्ति मिलती है। यदि तुम चाहो, तो अचाह होकर शान्ति पा सकते हो। बुराई-रहित होने से हमारा जीवन उपयोगी होता है। यदि तुम अपना जीवन उपयोगी बनाना चाहो, तो किसी को बुरा न समझो। किसी को बुरा न समझने से जीवन जगत् के लिये उपयोगी होता है। यह जीवन का सत्य है। सबको प्रभु का मानें, सबमें प्रभु को मानें, और सबको भूल जायें। प्रभु को ही मानें। यह दो श्रेणियाँ प्रभु-विश्वासियों की होती हैं। सब प्रभु के हैं—'सब कुछ तेरा,' 'तू है मेरा'-इस सत्य को स्वीकार करना है। यह इन्द्रियों से नहीं होता, मन से नहीं होता, बुद्धि से नहीं होता, वरन् 'अपने' द्वारा होता है। और वह स्थायी हो जाता है, उनकी विस्मृति नहीं होती। इसलिये अपने द्वारा स्वीकार करो कि प्रभु अपने हैं। ऐसा मानने से सबके प्रति प्यार की भावना जागेगी। एक घटना सुनायें—राजनारायण मुख्त्यार नामक एक सज्जन थे, फर्रुखाबाद में। एक बार मैं उन्हीं के यहाँ ठहरा था। मुख्त्यार की स्त्री ने मुझसे पूछा-"स्वामी जी, भक्ति का स्वरूप क्या है?" मैं आँगन में बैठा था, वह अपने पति की बहन के लड़कों को बहुत ही प्यार से खाना खिला रही थी, जैसा कि माताओं का स्वभाव होता है। मैंने पूछा, "आप इन बच्चों को इतने प्यार से खाना क्यों खिला रही हैं?" उन्होंने कहा—"क्या आप नहीं जानते, यह मुख्त्यार साहब की बहन के बच्चे हैं, हमारे भानजे हैं?" हमने कहा, "जो इतने प्यार से बच्चों को खाना खिला रही हो, इसमें मुख्त्यार साहब का प्यार है, या बच्चों का? यदि मुख्त्यार साहब के भानजे न होते, तो क्या इतने प्यार से खाना खिलातीं?" मैंने कहा, "यही भक्ति है।"

आप सब काम प्रभु का मानकर करते हैं, तो प्रेम का भाव परमात्मा से मिला देगा, यही भक्ति का स्वरूप है। इसलिये या तो संसार को देखो मत, बिलकुल विमुख हो जाओ। और देखो, तो प्यार से देखो। इससे जो प्यार जगेगा, भगवान् तक पहुँचेगा और बाह्य क्रिया-कलाप संसार में रह जायेगा। संसार की सेवा व प्रभु का प्रेम ही सत्य है। क्या हम सब प्रभु को नहीं मान सकते? क्या हम सबको प्यार भरी नजर से देख भी नहीं सकते? सबको आदर-सम्मान नहीं दे सकते? दे तो सकते हैं; क्योंकि आदर-सम्मान देने में कोई हानि का डर नहीं। एक बार का माना हुआ सम्बन्ध सदा के लिये पक्का हो जावेगा। "सब प्रभु का है", "प्रभु अपने हैं"—इस महान् सत्य को क्या स्वीकार नहीं कर सकते? अगर आपको संसार पसन्द नहीं आता, तो संसार से नाता तोड़ दो। मान लो, मेरा कुछ नहीं है—यह ज्ञान की बात है। सब प्रभु के हैं, प्रभु के नाते प्रिय हैं—यह विश्वास की बात है। ज्ञानपूर्वक स्वीकार करो कि संसार में मेरा कुछ नहीं है। विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि प्रभु अपने हैं। जिस प्रभु का यह सब कुछ है, वह सर्वसमर्थ प्रभु अपने में हैं, अभी हैं। इससे बढ़कर और कोई दीक्षा हो सकती है, तो हमें नहीं मालूम।

कोई अपनी मानी हुई जाति को, नाम को भूलता है क्या? तो माने हुये परमात्मा को कैसे भूल जाओगे? परन्तु यह तब होगा, जब मान लो कि प्रभु अपना है। एक बात बताओ—किया हुआ ठहरता है या स्वीकार किया हुआ? "स्वीकार किया हुआ।" स्वीकार शरीर धर्म है या स्वधर्म है? स्वधर्म है। स्वीकार अपने द्वारा करोगे। अपने द्वारा जो स्वीकार करोगे, उसी से सर्व दुःखों से निवृत्ति, सुख व शान्ति मिल सकती है। स्वीकार करना आपका काम है। उस स्वीकृति में यदि विकल्प न हो, सन्देह न हो, तो यही वाणी, भगवान् की वाणी, वेद-वाणी, व सन्त-वाणी हो जावेगी। जिसमें सन्देह हो, वह भगवान् की वाणी, वेद-वाणी व सन्त-वाणी नहीं है। इस आस्था में विकल्प न करो, सन्देह न करो, और पुनः इस पर विचार कर लो कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये; सब कुछ प्रभु का है, प्रभु अपने हैं—इस महावाक्य को अपनाकर हम सब सदा के लिये कृतकृत्य हो जायें, यही मेरी सद्भावना है।

संसार की पहुँच शरीर तक

एक श्रोता—महाराज जी! ज्ञान का स्वरूप क्या है?

स्वामीजी—ज्ञान का स्वरूप कोई क्या बताये! ज्ञान तो तुम्हारा अपना स्वरूप है। ज्ञान से मतलब क्या है? जिससे जाना जाये, जो जाना जाये, सो ज्ञान नहीं। जिसके द्वारा जाना जाए, उसको ज्ञान कहते हैं। जिसके द्वारा माना जाता है, उसे विश्वास कहते हैं। जिसके द्वारा किया जाता है, उसे बल कहते हैं। ये तीनों चीजें आपको प्राप्त हैं। ज्ञान, बल और विश्वास—यह साधन सामग्री हैं। बल मिला है आपको, संसार की सेवा के लिये और विश्वास मिला है आपको, परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने के लिये और ज्ञान मिला है संसार से सम्बन्ध तोड़ने के लिये। अगर हम वेद-वाणी के आधार पर बताने लग जायें, तो आपको मजबूर होकर मानना पड़ जाय। पर हम चाहते नहीं हैं कि वैसा करें। वेद भगवान् भी ऐसा ही कहते हैं जैसा मैं कह रहा हूँ।

मैंने पढ़े-लिखों से सुना है—ज्ञान से संसार का सम्बन्ध टूटता है, विश्वास से परमात्मा से सम्बन्ध जुड़ता है, बल से सेवा कर सकते हैं। बल संसार के काम आता है। किसी के पास जो कुछ बल है, वह दूसरों के काम आता है। बल आपके काम कभी नहीं आता। एक बहुत बड़ा चिकित्सक हो, तो रोगी के काम आता है कि अपने काम वह आता है? रोगी की सम्पत्ति उसके काम आती है। किसी भी प्रकार का बल जो अपने में है, वह दूसरों के काम आता है। आपने रवैया क्या बना लिया है कि मेरे पास बल होगा, तो मैं आराम से रहूँगा। आप बल के द्वारा अपने सुख के लिये निर्बलों को सताने लग जाते हैं।

उसका परिणाम क्या होता है कि आप स्वयं निर्बल हो जाते हैं। तो क्या यह जीवन का सत्य नहीं है? अब इसी बात पर आप विचार करें, तर्क करें, मनन करें कि बल अपने काम नहीं आ सकता। जब आपका बल किसी और के काम आता है, तो किसी और की वस्तु आपके शरीर के काम आती है। शरीर के ही काम आती है, आपके अपने काम तो फिर भी नहीं आती। परन्तु भूल के कारण जब आप शरीर को अपना मान लेते हैं और परिवार को समाज से अलग मान लेते हैं, तब क्या होता है? तब आप अनुभव करते हैं कि हमारा बल दूसरों के काम आया और दूसरों का पैसा हमारे शरीर के काम आया और शरीर परिवार के काम आया। लेकिन वास्तव में देखा जाय तो शरीर, परिवार अथवा समाज संसार का ही एक अंग है। जनाब! आपका

बल भी आपके काम नहीं आता और संसार से प्राप्त वस्तु भी आपके काम नहीं आती। बल की पहुँच शरीर की सीमा के बाहर नहीं होती।

मान लीजिये, आपने बहुत बड़ा बिजनेस किया और बहुत पैसा कमाया। अच्छा! उस रुपये से आपको पर्सनल क्या फायदा होगा? वह रुपया शरीर की सीमा के बाहर नहीं जा सकता। मकान बना तो शरीर के लिये, सामान खरीदा तो शरीर के लिए, वस्तुओं का संग्रह किया तो शरीर के लिए। इस दृष्टि से अगर आप विचार करेंगे, तो आपको यह मानना पड़ जायेगा कि संसार अपने काम आने वाली चीज नहीं है। तो मेरे भाई! संसार यदि आपकी सेवा करना चाहे तो इसके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपके काम आ जाये। तो जब तक इस प्रकार की क्रान्ति आप अपने जीवन में नहीं लायेंगे कि संसार मेरे काम आ ही नहीं सकता, तब तक न संसार के काम आ सकेंगे, न अपने काम। आप स्वयं यदि उदार हो जायें, तो संसार आपको पसन्द करता है कि नहीं? और उदारता किसी वस्तु का नाम नहीं है, किसी योग्यता का नाम नहीं है, सामर्थ्य का नाम नहीं है, किसी परिस्थिति का नाम नहीं है। क्या राय है? तो आप संसार के काम आ सकते हैं। संसार आपके काम आ ही नहीं सकता।

उदारता में रस है

उदारता में रस है। लेकिन उदारता का अर्थ लोगों ने यह मान लिया है कि थोड़ा दान दे दिया, तो उदार हो गये; थोड़ा शारीरिक काम कर दिया, तो उदार हो गये। यह तो ऐसा ही समझिये जैसे छोटी बच्चियाँ गुड्डे-गुड़ियों का विवाह करके आनन्द लेती हैं। उदारता का असली अर्थ क्या है? उदारता का असली अर्थ है कि आप सुखी को देखकर प्रसन्न हो जाएँ, दु:खी को देखकर करुणित हो जाएँ। क्या करुणा में रस नहीं है? पूछो किसी मनोवैज्ञानिक से। क्या प्रसन्नता में रस नहीं है? तो उदारता में जो रस है, भोग में नहीं है, सुख में नहीं है। उनसे भी उत्कृष्ट रस है-शान्ति में और उससे भी उत्कृष्ट रस है-स्वाधीनता में। और स्वाधीनता से उत्कृष्ट रस है, प्रेम में। ये चारों चीजें आपको प्राप्त हो सकती हैं—उदारता भी आपको प्राप्त हो सकती है, शान्ति भी आपको प्राप्त हो सकती है, स्वाधीनता भी आपको प्राप्त हो सकती है और प्रेम भी आपको प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से उदारता, शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम—ये चार क्षेत्र हैं रस के। स्वाधीन का अर्थ है, अपने में अपने को सन्तुष्ट कर लेना, 'पर' की अपेक्षा न रखना। पर-आश्रय से रहित, परिश्रम से रहित स्वाधीनता होती है। इसी को जीवन-मुक्ति भी कहते हैं।

उदारता, अर्थात् करुणा और प्रसन्नता जब जीवन में आ जाती है, तो भोग की रुचि और काम का नाश हो जाता है। भोग की रुचि का नाश होने से योगरूपी शान्ति मिल जाती है और काम का नाश होने से स्वाधीनता मिल जाती है। किसी एक चीज के जीवन में ठीक-ठीक उतरने से सब चीजें अपने आप आ जायेंगी। उदारता के जो दो पहलू बताये—करुणा और प्रसन्नता। तो प्रसन्नता तो स्वाधीन बना देती है और करुणा शान्ति प्रदान करती है। शान्ति और स्वाधीनता प्रेम में बदल जाती हैं। प्रेम ही प्रेम रह जाता है। प्रेम जिसके प्रति होता है, उसके लिए रसरूप होता है और प्रेम की प्रतिक्रिया भी प्रेम ही होती है। तो प्रेमी और प्रेमास्पद का जो नित्य-विहार है, यह मानव-जीवन की पूर्णता है।

आप पौराणिक कथाओं को पढ़ो, मैं राय देता हूँ, हालांकि मैंने नहीं पढ़ी हैं। तो आपको यह मालूम होगा और आप निर्णय नहीं कर सकेंगे कि श्री राधारानी प्रेमी हैं या श्रीकृष्ण प्रेमी हैं। राधारानी के जीवन को देखें, तो मालूम होता है कि श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं और राधारानी प्रेमी हैं; और श्रीकृष्ण के जीवन को देखें, तो मालूम होता है कि राधारानी प्रेमास्पद हैं और श्रीकृष्ण प्रेमी हैं। गौरीमैया के चरित्र को देखें, तो मालूम होता है कि भगवान् सदाशिव

प्रेमास्पद हैं और गौरीमैया प्रेमी हैं। अगर भगवान् सदाशिव के चरित्र को देखें, तो मालूम पड़ेगा कि भगवान् सदाशिव प्रेमी हैं और गौरीमैया प्रेमास्पद हैं। जो मृतक मुण्डों की माला पहने हैं! वे कितने प्रेमी हैं! आपने किसी पुरुष को इतना प्रेमी नहीं देखा होगा कि मृतक स्त्री को गले में पहन ले। यह जो जीवन का सत्य है, वेदों का तथ्य है, उसको समझाने के लिये भगवान् व्यास ने पुराण लिखे। आप पढ़े-लिखे लोग ग्रन्थों को ज्यादा पसन्द करते हैं। इस तरह जरा पढ़ो पुराण को।

परिस्थिति का सुदपयोग—1

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही सभी का हित है। किन्तु हमसे भूल यह होती है कि हम परिस्थिति-परिवर्तन के लिये, अथवा अनुकूल परिस्थिति को सुरक्षित बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यद्यपि कोई भी परिस्थिति सर्वांश में अनुकूल नहीं होती और न सर्वांश में प्रतिकूल ही होती है। प्रत्येक परिस्थिति में जो करना चाहिये, उसको करने की सामर्थ्य विद्यमान होती है और जो नहीं करना चाहिये, उसके त्याग की सामर्थ्य भी रहती है। परन्तु हम इस बात को भूल जाते हैं कि प्रस्तुत परिस्थिति में क्या करना चाहिये। जो करते रहते हैं, बस, उसी को पकड़े रहते हैं। नहीं तो, यह करना ही है, परन्तु कर पाते नहीं और फिर पश्चाताप करते हैं। ऐसी परिस्थिति में एक बात का निर्णय करना है और वह हरेक व्यक्ति को अपने आप करना है, दूसरों के द्वारा नहीं, कि कोई भी परिस्थिति क्या ऐसी हो सकती है, जिसके बिना हम रह नहीं सकते? यदि आपको ऐसा मालूम होता हो कि सचमुच कोई ऐसी परिस्थिति हो सकती है, तो सोचिये कि उस परिस्थिति का वियोग तो नहीं होगा? पर वियोग होता ही है। जब वियोग होता है, तब कोई परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसके बिना हम नहीं रह सकते हों।

यदि कोई मुझसे यह पूछता कि भाई, तुम आँखों के बिना रह सकते हो? तो क्या मैं कभी यह मानने के लिये राजी होता कि मैं आँखों के बिना रह सकता हूँ? किन्तु देखिये, आँखों के बिना रह रहा हूँ। उसी प्रकार हम लोग सदैव इस बात का ध्यान रखें कि कोई परिस्थिति सचमुच ऐसी है ही नहीं, जिसके बिना हम नहीं रह सकते, या जो हमारे बिना नहीं रह सकती। हर परिस्थिति हमारे बिना रह सकती है और हर परिस्थिति के बिना हम रह सकते हैं। लेकिन जब, "परिस्थिति में ही जीवन है"- ऐसा विश्वास होता है, तब प्रतिकूल परिस्थिति का भय पैदा हो जाता है और अनुकूल परिस्थिति की

आशा उत्पन्न हो जाती है। हम चाहते हैं कि अनुकूल परिस्थिति बनी रहे और प्रतिकूल परिस्थिति न आये। यदि परिस्थिति स्वभाव से सदैव रहने वाली होती, तब तो आप यह कह सकते थे कि आपकी बात ठीक है। आप कहें कि कोई-न-कोई परिस्थिति तो रहती ही है। तो जो परिस्थिति रहती है, उसमें हमें क्या करना है? इस बात को अपने सामने रखना चाहिये। वह चाहे जैसी भी परिस्थिति हो। जो शक्ति आप परिस्थिति को परिवर्तन करने के लिये लगाते हैं, यदि वही शक्ति आप परिस्थिति के सदुपयोग में लगा दें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियों से अतीत जो जीवन है, उसमें या तो श्रद्धा हो जाय या उसकी प्राप्ति हो जाय। दोनों ही बातें हो सकती हैं। श्रद्धा हो जायेगी, तो एक नवीन लालसा जाग्रत होगी, एक नवीन जिज्ञासा जाग्रत होगी और अनुभूति हो जायगी। तब यथेष्ट विश्राम मिलेगा। और ये ही दो बातें जीवन में उपयोगी हैं, या तो आपको विश्राम मिल जाय या आपके जीवन में एक ऐसी उत्कट लालसा जग जाय, जो सभी कामनाओं को खा जाय और सभी आक्रमणों पर विजयी हो जाय।

लालसा में बड़ी भारी सामर्थ्य है और विश्राम में बड़ी भारी सामर्थ्य है। ये दोनों बातें जीवन के लिये इतनी उपयोगी हैं कि कोई भी परिस्थिति इनकी तुलना नहीं कर सकती, समानता नहीं कर सकती। किसी भी परिस्थिति में न उतना रस है और न उतनी सामर्थ्य है। जिस समय आपके जीवन में कोई लालसा होती है, उस समय आपके जीवन में अन्य कामनाएँ नहीं रह सकतीं। लालसा का पहला काम है कि कामनाओं को खा जाय, और जब कामनायें नहीं रहतीं, तब परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रहता। लालसा की जागृति-मात्र से परिस्थिति से सम्बन्ध विच्छेद! बताइये, इसमें कौन-सी पराधीनता है, और किस परिस्थिति में पराधीनता है? थोड़ी देर के लिये मान लीजिये कि हमें जिस जीवन की लालसा है, या जिसकी लालसा है, वह हमें न भी प्राप्त हो, और कभी प्राप्त न हो, ऐसा भी यदि मान लें और लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तो क्या उसमें कोई हानि होगी? कोई हानि नहीं होगी। क्योंकि जिसका मिलन रस-रूप है, उसकी स्मृति उससे भी अधिक रस-रूप है। जिसका मिलन रसरूप होता है उसकी स्मृति कभी नीरस नहीं होती और स्मृति में कोई पराधीनता नहीं है। वस्तु मिलने में आप पराधीन हो सकते हैं; लेकिन किसी की याद में भी क्या कोई पराधीन हो सकता है? इसमें कोई भी पराधीन नहीं है। अगर आपको स्मृति प्रिय नहीं है और आप सोचें कि यह तो बड़ी वेदना देती है, हमें स्मृति नहीं चाहिये। तो भैया, स्मृति में तो कोई पराधीन नहीं है। दो ही बातें तो जीवन में हो सकती हैं-या तो आप सबसे अलग हो जायें, या

किसी एक लालसा में आबद्ध हो जायें। इसमें क्या कठिनाई है कि कोई एक ही लालसा जीवन में हो अथवा कोई भी लालसा जीवन में न हो? लेकिन कठिनाई यह है कि हम एक ओर तो यह सोचते हैं कि हमारे जीवन में एक क्रांति हो, एक लालसा हो, एक जिज्ञासा हो और दूसरी ओर यह भी सोचते हैं कि जो कामनाएँ हैं, वे भी पूरी हो जायें, यानी यह जो द्वन्द्वात्मक स्थिति है-'कामना-पूर्ति भी हो', 'लालसा की जाग्रति भी हो' और 'विश्राम' भी मिले। तीनों बातें चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कामना की अपूर्ति का जो भय है, वह आपको-हमको क्षोभित कर देता है और क्षोभित होने का परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य प्राप्त थी, उसका तो सदुपयोग नहीं होता और जो सामर्थ्य प्राप्त होने वाली थी, उसका विकास रुक जाता है, अर्थात् अप्राप्त प्राप्त नहीं होता और प्राप्त का सदुपयोग नहीं होता। जीवन की यह दशा सबसे भयंकर दशा है और इसी से बचना है, अन्य किसी दशा से नहीं बचना है।

जो भी सामर्थ्य आपको प्राप्त है, जो भी योग्यता आपको प्राप्त है, आप उसको परिस्थिति के अनुसार प्रयोग कीजिये। यदि सुदुपयोग नहीं कर सकते हैं, तो उस सामर्थ्य को लेकर ही क्या करेंगे? आप कहेंगे कि हममें तो कोई सामर्थ्य है ही नहीं। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जिसमें कोई भी सामर्थ्य न हो। जिसको हम असमर्थता कहते हैं, वह आंशिक सामर्थ्य का ही नाम है, सामर्थ्य के अभाव का नाम नहीं है। आंशिक सामर्थ्य के सदुपयोग से आवश्यक सामर्थ्य अपने आप आती है। जब आंशिक सामर्थ्य के सदुपयोग से आवश्यक सामर्थ्य आती है, तो फिर जीवन में चिन्ता और भय का कौन-सा स्थान है? तो कहना होगा कि चिन्ता और भय का ही यह परिणाम होता है कि जो सामर्थ्य हमको प्राप्त है, उसका तो सदुपयोग नहीं कर पाते और अप्राप्त सामर्थ्य का चिन्तन करने लगते हैं। जैसे, कल्पना करो, कि जो भोजन प्राप्त है, उसे तो हम पचा न पायें, और अप्राप्त भोजन का चिन्तन करें कि यह और होता, यह और होता। इसी के दुष्परिणाम स्वरूप अप्राप्त का चिन्तन और प्राप्त का दुरुपयोग होने लगता है और हमारा चित्त अशुद्ध हो जाता है। करना यह है कि प्राप्त का तो सदुपयोग हो और अप्राप्त के चिन्तन से मुक्त रहें।

जब हम अप्राप्त के चिन्तन से रहित रहेंगे, तब विश्राम मिलेगा। और विश्राम से या तो हमें आवश्यक सामर्थ्य मिल जायेगी या जो मिलना चाहिये वह मिल जायेगा; क्योंकि विश्राम-मात्र से भी लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। ऐसी बात नहीं है कि श्रम से ही लक्ष्य की प्राप्ति हो। श्रम तो प्राप्त सामर्थ्य के

सदुपयोग के लिए अपेक्षित है, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई श्रम अपेक्षित नहीं है! जो सामर्थ्य हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें? जो वस्तु हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें? और जो योग्यता हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें? इसके लिए श्रम अपेक्षित है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रम अपेक्षित नहीं है। अब आप सोचिये कि जब श्रम-रहित जीवन से हमें लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, तब भी हम लक्ष्य से निराश रहें! इससे बढ़कर और असावधानी क्या हो सकती है? यह जो हम लोगों को चिन्ता दिन-रात सताती रहती है कि यह नहीं हुआ, और यह नहीं किया, और यह नहीं कर पाये, और यह करेंगे—यह चिन्ता केवल अपने को शक्ति-हीन बनाने में हेतु है। इससे और कोई लाभ नहीं होता। इसलिये जैसी परिस्थिति आपके सामने है, उस परिस्थिति का हृदय से आदर करो, भयभीत मत हो जाओ। यह सोचो कि यह परिस्थिति क्यों आई, इस परिस्थिति का क्या कारण है?

हाँ, प्रतिकूल परिस्थिति का कारण है—विलास। कोई भी प्रतिकूल परिस्थिति ऐसी नहीं होती, जिसके मूल में विलास न हो। उदाहरण के रूप में ले लीजिये कि मेरा पेट खराब हो गया। अगर खाने में मेरी आसक्ति न हो, तो कभी पेट खराब नहीं होगा। और हम सोचते यह हैं कि भोजन करने का जो सुख है, वह सुरक्षित बना रहे, सदैव सुरक्षित बना रहे। भूख हो या न हो; लेकिन भोजन का सुख सुरक्षित रहे। अब आप सोचिये कि क्या यही जीवन है? तब तो बड़ी गम्भीरता से यह कहेंगे कि भाई, भूख लगती है, इसलिए भोजन करना पड़ता है। यदि भूख न लगे, तो भोजन की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भोजन होता है दस मिनट में। उसके बाद तो आप कई घण्टे बिना खाये रहते ही हैं। यदि भोजन करने में ही सुख था, तो उसके बाद में छह घण्टे आपको कैसे सुख रहा? मान लीजिये, आप दिन-रात में से एक घण्टा खाने में लगाते हैं, तो तेईस घण्टे आप कैसे रहते हैं? आपको मानना ही पड़ेगा कि तेईस घण्टे का समय बिना खाये निकलता है। क्या उसमें कोई जीवन नहीं है? उसी प्रकार हम प्रत्येक प्रवृत्ति के विषय में देखें कि जितनी देर कोई प्रवृत्ति होती है, उससे अधिक समय तो विश्राम में ही जाता है, यानी निवृत्ति रहती है। तो सोचिए, निवृत्ति-काल में जीवन है या नहीं? यदि निवृत्ति-काल में जीवन है, तो आपको मानना ही पड़ेगा कि विश्राम में भी जीवन है। परन्तु कितने दु:ख की बात है कि विश्राम हमारे लिए दुर्लभ हो गया।

सही श्रम न करें, विश्राम न करें और करें क्या? या तो चिन्ता करें या भयभीत रहें या गलत काम करें, और फिर सोचें बड़ी-बड़ी बातें। आस्तिकवादी सोचें कि हमें प्रभु-प्राप्ति नहीं हुई! भौतिकवादी सोचें कि हमको शान्ति नहीं मिली! अध्यात्मवादी सोचें कि हमें स्वरूप का बोध नहीं हुआ! यदि, स्वरूप का बोध आपका जीवन है, चिर-शान्ति यदि आपका जीवन है और भगवद्-प्राप्ति यदि आपका जीवन है, तो फिर आप बताइये, परिस्थिति आपका जीवन कैसे हो सकती है? जब परिस्थिति आपका जीवन नहीं हो सकती, तो चाहे जैसी परिस्थिति हो, उसके अनुसार जो करना है उसे कर डालना है। इसके अतिरिक्त परिस्थिति का कोई महत्त्व नहीं है।

परिस्थिति का सदुपयोग—2

परिस्थिति का अर्थ है—कर्त्तव्य-पालन का क्षेत्र, कर्त्तव्य-पालन का अवकाश। कर्त्तव्य-पालन से भिन्न परिस्थिति की आवश्यकता नहीं और कर्त्तव्य-पालन में पराधीनता नहीं है; क्योंकि कर्त्तव्य एक-सा तो रहता नहीं, परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य रहता है। तो जिस परिस्थिति में हमें जो करना चाहिये, उसमें कोई व्यक्ति पराधीन नहीं है। कल्पना करो कि इस समय मेरे सिर में बड़े जोर की पीड़ा हो जाय, तो आप कहेंगे कि आपका कर्त्तव्य है कि इसकी चिकित्सा करें। और चिकित्सा का साधन न हो, तो यह भी तो मेरा कर्त्तव्य है कि उस पीड़ा को मैं धीरज के साथ सहन कर लूँ; क्योंकि पीड़ा सदैव तो रहेगी नहीं—पहले नहीं थी और आगे भी रहेगी नहीं। तो जो चीज सदैव नहीं रहेगी, उससे भयभीत हो जायें और उसे बदलने के लिए व्यर्थ प्रयास करें, यह बुद्धि-संगत कैसे है? फिर यह तो सोचिये कि आपके पास उस परिस्थिति को बदलने का पहला साधन क्या होगा? पहला साधन होगा—उस परिस्थिति से भयभीत न होना। आप पहले ही साधन को गलत कर देते हैं और भयभीत हो जाते हैं। तो जो सामर्थ्य उस परिस्थिति के सदुपयोग करने के लिए थी, वह सामर्थ्य भय से नाश हो जाती है। यह बड़ी गम्भीरता से सोचने की बात है। जो व्यक्ति भयभीत रहता है, वह कभी सामर्थ्य का संचय नहीं कर सकता। उसके जीवन में पग-पग पर असमर्थता आती है। और जो भयभीत नहीं रहता, वह चाहे कितना ही निर्बल क्यों न हो, और अगर उसकी मृत्यु भी आती है, तो वह हँसकर उसको अपनाता है कि आओ, आओ, आओ; क्योंकि मृत्यु तो नवीन जीवन की दात्री है, इसमें हानि ही क्या है? बताओ, मृत्यु से क्या हानि होगी? नवीन जीवन मिलेगा, अच्छा जीवन मिलेगा। जब शरीर काम के लायक नहीं रहता, तब ही तो मृत्यु आती है?

विश्राम से क्या हानि है? विश्राम से कोई हानि नहीं। ये सारी बातें हम लोगों से हो सकती हैं या नहीं? हम किसी और बात में भले ही पराधीन हों। परन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि हम आज विश्राम में ही पराधीन हो गये, निद्रा में भी पराधीन हो गये। कामना-रहित होने में भी पराधीन हो गये। तो आप विचार करके देखें कि हम परिस्थिति का सदुपयोग तो करते नहीं हैं, अप्राप्त परिस्थिति का चिंतन करते रहते हैं अथवा परिस्थिति को कोसते रहते हैं, अथवा अपने को कोसते रहते हैं, दूसरों की निन्दा करते रहते हैं या अपनी निन्दा करते हैं। यह हमारा स्वभाव बन गया है। इसी स्वभाव ने चित्त को

अशुद्ध कर दिया है। इसलिए भाई, प्रत्येक दशा में, प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहना है, शान्त रहना है और प्राप्त परिस्थिति का आदर करना है। इससे हममें परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य आ जायगी। और जब हम परिस्थिति का सदुपयोग कर डालेंगे, तो परिस्थिति से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है। तब हमें किसी परिस्थिति से भयभीत होने की कौन-सी आवश्यकता है? अथवा किसी परिस्थिति को सुरक्षित रखने की कौन-सी चिन्ता है? लेकिन हम या तो परिस्थिति से भयभीत होते हैं या परिस्थिति को सुरक्षित रखना चाहते हैं। परन्तु यह क्या किसी के वश की बात है कि हम जिस परिस्थिति को सुरक्षित रखना चाहें उसमें परिवर्तन न हो, या जिस परिस्थिति से हम भयभीत होते हैं वह परिस्थिति हमारे सामने न रहे? परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति बदलती है, परिस्थिति के भय से परिस्थिति बदलती नहीं। इसलिए हम सबको परिस्थिति का सदुपयोग करना है। अब परिस्थिति के सदुपयोग करने की सामर्थ्य कब आयेगी? उसके लिये सबसे पहली बात हमें यह माननी पड़ेगी कि परिस्थिति में जीवन-बुद्धि न रखें। कोई भी परिस्थिति हमारा जीवन नहीं हो सकती।

आज हमारा सारा प्रयास और हमारी सारी चिन्ता इस बात के लिए नहीं है कि हमें अपने लक्ष्य की प्राप्ति करनी है। हम इस बात के लिए चिन्तित रहते हैं कि यहाँ जमीन खाली है, यहाँ एक कुटी कैसे बन जाय और अमुक चीज कैसे हो जाय। जितनी चिन्ता आप एक परिस्थिति पैदा करने के लिए करते हैं, क्या उतना ही प्रयास आज जो परिस्थिति प्राप्त है, उसके सदुपयोग के लिए करते हैं? हम जीने की बड़ी भारी आशा रखते हैं। कभी किसी से पूछिये कि भाई, कब तक जिन्दा रहना चाहते हो? तो वह इसकी कोई सीमा ही नहीं बता सकेगा। कितने आदमी ऐसे हैं, जो यह कहें कि अब तो सचमुच जिन्दा रहना आवश्यक नहीं है। परिस्थिति से घबराकर कोई आदमी खुदकशी करने की सोचे, मरने की बात सोचे, वह बात अलग है; लेकिन यह पूछा जाय कि आपको जिन्दा रहने की आवश्यकता है या नहीं? तो यह बात साधारण व्यक्ति के मन में कभी नहीं आती कि जिन्दा रहने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जो करना चाहिए था, वह अभी नहीं किया, इसलिए हम जिन्दा रहने की आशा करते हैं। जो करना चाहिए, उसे करने के बाद कभी यह बात मन में नहीं आयेगी कि हमको जिन्दा भी रहना है, या जब काम समाप्त हो जाय, तब भी काम करने की, साधन करने की आवश्यकता है। एक आदमी लिखने के लिए बैठे और उसका लिखना समाप्त हो जाय, फिर उससे पूछा जाय कि क्या कलम, दवात की आवश्यकता है? ऐसे ही यह

परिवर्तनशील जीवन भी एक साधन-सामग्री है। हम वर्तमान जीवन का सदुपयोग तो करें नहीं, और जीने की आशा रखें, तो बताइये, क्या कभी हमारा हित होने वाला है? कभी हित नहीं होगा। इसलिए जल्दी-से-जल्दी हमें इस बात को सोचना चाहिये कि परिस्थिति के सदुपयोग के द्वारा परिस्थिति से अतीत का जो जीवन है, उसमें हमारी निष्ठा हो जाय, प्रतिष्ठा हो जाय, हमें वह प्राप्त हो जाय, और जब तक प्राप्त नहीं है, तब तक उसकी लालसा जाग्रत हो जाय। परिस्थिति से अतीत के जीवन की लालसा में इतनी सामर्थ्य है कि वह परिस्थिति-जनित मोह का नाश कर देती है—परिस्थिति से अतीत की जो लालसा है उसके द्वारा। यह कई लोगों को अनुभव होगा कि प्रिय का मिलन जितना सुखद है, प्रिय के वियोग में प्रिय की स्मृति उससे कम सुखद नहीं है। आप यह न समझ बैठें कि मैं केवल ईश्वरवाद की दृष्टि से यह बात निवेदन कर रहा हूँ। आपकी जो भी दृष्टि हो-अध्यात्मवादी हों, भौतिकवादी हों, आप उसी दृष्टि से सोचिये कि जिस वस्तु की लालसा जितनी प्रिय होती है, उसकी प्राप्ति कभी उतनी प्रिय नहीं होती। वस्तु की दृष्टि से भी आप सोचिये कि जिसकी लालसा आपको प्रिय है, उसका मिलन उतना प्रिय नहीं होता। कल्पना करो कि आपका कोई अभिन्न मित्र विदेश गया है और वर्षों से आपके मन में उसके मिलने की लालसा है। आपके पास यदि एकदम यह तार आये कि अमुक तारीख को वह आ रहा है। तार मिलते ही आपको बड़ा आनन्द मालूम होगा। आनन्द क्यों मालूम होगा? मित्र तो आपको मिला नहीं, वियोग तो ज्यों-का-त्यों है। आनन्द इसलिये मालूम होगा कि उस लालसा की पूर्ति की सम्भावना हो गई। आप निश्चित समय पर मित्र का स्वागत करने हवाई अड्डे पर पहुँच गये। जब हवाई जहाज दिखाई दिया, तो उत्कण्ठा और तीव्र हो गई और रस बढ़ता गया, उत्कण्ठा बढ़ती गई। यह बात गम्भीरता से सोचने की है कि जब कोई नई उत्कण्ठा जीवन में पैदा होती है, तो इन्द्रिय-जनित स्वभाव मिटता जाता है। अगर किसी को देखने की उत्कण्ठा है, तो सब इन्द्रियाँ उस समय नेत्र में आ जायेंगी। अगर किसी बात को सुनने की उत्कण्ठा है, तो सब इन्द्रियों की शाक्ति श्रोत में आ जायगी। यह प्राकृतिक नियम है कि जब कोई उत्कण्ठा जाग्रत होती है, तो सारी इन्द्रियाँ एक इन्द्रिय-सी बन जाती हैं। हवाई जहाज के उतरते ही उसमें से और भी यात्री उतर रहे थे, लेकिन आपकी दृष्टि अपने ही मित्र पर है। जिस समय आप अपने मित्र से मिलते हैं, तो मिलने का पहला क्षण जितना सुखद होता है, दूसरा क्षण उतना नहीं रहता, तीसरा क्षण उतना नहीं रहता। दो दिन के बाद क्या, चार-छह घण्टे के बाद ही आप कह सकते हैं कि तुम बड़े नालायक

आदमी हो, तुमने इतने दिनों से पत्र ही नहीं लिखा, और सम्भव है कि कुछ दिनों के बाद आपस में झगड़ा भी हो जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक दृष्टि से भी आप देखें तो वस्तु की उत्कण्ठा जितनी सरस होती है, व्यक्ति के मिलन की लालसा जितनी सरस होती है, उतनी वस्तु की प्राप्ति सरस नहीं होती, व्यक्ति का मिलन सरस नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसमें एक रहस्य है। और वह रहस्य यह है कि यदि वस्तु का मिलन ही जीवन होता, तो सरसता रहती; किन्तु वस्तु का मिलन जीवन नहीं है, व्यक्ति का मिलन जीवन नहीं है। इसलिए प्रत्यके वस्तु से, प्रत्येक व्यक्ति से अतीत की लालसा प्राणी में मौजूद है। परन्तु उस लालसा को हम वस्तुओं की, व्यक्तियों की एवं परिस्थितियों की कामना में बदलते रहते हैं, प्रवृत्तियों की कामना में बदलते रहते हैं। जानते नहीं कि हमारे जीवन में किसकी लालसा है, किसकी जिज्ञासा है। परन्तु यह बात तो प्रत्येक भाई जानता है कि वस्तु की कामना से हमारी पूर्ति नहीं हुई, वस्तु की प्राप्ति से हमारी पूर्ति नहीं हुई, व्यक्ति की प्राप्ति से हमारी पूर्ति नहीं हुई। जब हम एक पक्ष जानते हैं, तो कम-से-कम हमें यह भी जानना चाहिये कि हमारे जीवन में कौन-सी ऐसी जिज्ञासा है, जो अभी तक पूरी नहीं हुई, कौन-सी ऐसी लालसा है, जो अभी तक जाग्रत नहीं हुई? उस लालसा अथवा जिज्ञासा को हमें जाग्रत करना है। हम चाहे और किसी बात में पराधीन हों, लेकिन किसी की लालसा में तो पराधीन नहीं हैं। किसी की लालसा में तो हम सब स्वाधीन हैं। एक बात आप पूछ सकते हैं कि लालसा में शिथिलता कब आती है? तो या तो जिसकी हमें लालसा हो, उसका अस्तित्व न हो, तब शिथिलता आयेगी। कोई वस्तु है नहीं, हम लालसा बेकार करते हैं, अथवा मिलने की सम्भावना न हो, तब लालसा में शिथिलता आती है। परन्तु जिसके मिलने की सम्भावना है, जिसका अस्तित्व है, उसकी लालसा में कभी शिथिलता आ ही नहीं सकती। आप कहेंगे, अच्छा भाई, हम मान लेते हैं कि वस्तु से अतीत कोई जीवन नहीं है, हम यह मानते हैं। तब तो आपकी लालसा वाला जीवन समाप्त हो जायेगा। अच्छा भाई, अगर वस्तु से अतीत कोई जीवन नहीं है, तो क्या आप इस बात को सिद्ध कर सकते हैं कि वस्तु में जीवन है? तब आपको यह भी मानना पड़ेगा कि वस्तु में भी जीवन नहीं है और आपने यह भी मान लिया कि वस्तु से अतीत में भी जीवन नहीं है। तो उसका अर्थ यह है कि जीवन नहीं है। तब तो फिर मृत्यु का आह्वान करना चाहिये, मृत्यु को प्यार करना चाहिये, जीवन की लालसा नहीं रखनी चाहिये। लेकिन अपने जीवन की लालसा कभी मिटती देखी है? नहीं देखी। इसलिए भाई, जीवन वस्तु से अतीत है। युक्ति से कोई सिद्ध नहीं कर सकता

कि नहीं है। अच्छा कल्पना के लिये हमने मान लिया कि जीवन नहीं है। तो फिर मृत्यु का भय कैसा? और जब मृत्यु का भय नहीं है, तो शरीर को रखने की आशा कैसी? और जब शरीर को रखने की आशा नहीं है, तो बताइये, फिर कोई कामना कैसी? तब भी आपको कामना-रहित ही होना है। अगर कोई व्यक्ति यह मान ले कि जीवन जैसी कोई वस्तु नहीं है, तब भी कामना-रहित होना है, और यदि जीवन है, तब भी वस्तुओं से कामना-रहित होना है। किसी भी युक्ति से आप यह सिद्ध नहीं कर सकते कि कामना को रखना मनुष्य को अभीष्ट है।

परिस्थिति का सदुपयोग—3

किसी भी मानव को कोई भी कामना रखना अभीष्ट नहीं है। या तो उसको मिटाना अभीष्ट है या उसका पूरा करना अभीष्ट है। तो जो कामना मिट सकती है, उसको तो मिटा ही देना चाहिए। और जो कामना नहीं मिट सकती, उसको महत्त्व नहीं देना है। क्योंकि कामना की पूर्ति किसी व्यक्ति के अधीन है क्या? मान लो मैं बोलना चाहता हूँ, परन्तु कोई सुनने वाला न हो तो? आपको यह मानना पड़ेगा कि कामना-पूर्ति में व्यक्ति स्वाधीन नहीं है। तो जिसकी पूर्ति में हम स्वाधीन नहीं हैं, उसको इतना महत्त्व देना कि जितना हम आज दे रहे हैं, क्या आवश्यक है? बिलकुल आवश्यक नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि जिसके करने में आप स्वाधीन हैं, उससे निराश हो जायें, तो क्या यह कोई प्राकृतिक दोष है? यह प्राकृतिक दोष नहीं है। यह व्यक्तिगत दोष है। कामना-निवृत्ति में जहाँ हम स्वाधीन हैं, उससे हम निराश हो बैठे हैं और कहते हैं कि बड़ा कठिन है महाराज! कामनाओं का त्याग बड़ा कठिन है। अच्छा भाई, तो क्या कामना-पूर्ति सुगम है? आप जीवन की अनेक घटनाओं से और अपनी अनुभूति से भली-भाँति जानते हैं कि छोटी-से-छोटी कामना की पूर्ति में भी प्राणी स्वाधीन नहीं है; क्योंकि जिन साधनों से कामना पूरी होगी, वे सभी साधन आपसे भिन्न हैं। जैसे मैं इस हाथ को यहाँ रखना चाहूँ, तो इससे भी हाथ में रखने की सामर्थ्य है, तभी तक आप हाथ यहाँ से वहाँ रख सकते हैं। लेकिन ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं कि आप हाथ उठाना चाहते हैं और उठा नहीं सकते। तो यदि हम पहले से ही सोच लें कि जो बात हम नही कर सकते, उसको नहीं करेंगे। तो बताइये, इससे क्या हानि हो जायगी, क्या कठिनाई आ जायेगी? जो बात नहीं कर सकते, उसे करने की चाह आपके मन में पैदा हुई है, तभी न आपको दुःख मालूम होगा? आप सोचिये कि हाथ उठ नहीं सकता, तो और मजाक उड़ाइये और कहिये उस

हाथ से कि, तुम तो बड़ा ही नाज करते थे कि हम यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं। परन्तु देखो, तुम्हारी आज क्या दशा है? अब तो तुम्हें पता चला कि तुम कुछ नहीं कर सकते हो। तो जब हम कुछ नहीं कर सकते और करने की बात सोचते हैं, तभी हमारे-आपके जीवन में दु:ख आता है, एक अभाव आता है। लेकिन जब हम कुछ कर नहीं सकते और यदि उसे करने की बात न सोचें, क्या तब भी दु:ख होगा? जो नहीं कर सकते हैं, उसे यदि नहीं करना चाहते हैं, तब आपके जीवन में कोई अशान्ति नहीं आती। अशान्ति तभी आती है कि जब हम करना चाहते हैं और नहीं कर सकते। फिर भी आप कहेंगे कि भाई, ऐसा करने पर भी तो करने की रुचि का नाश नहीं हुआ। अच्छा भाई, करने की रुचि का नाश नहीं हुआ, तो जो कर सकते हो, उसे करके देखो। जो कर सकते हो, उसे करो नहीं और जो कर न सको, उसे त्यागो नहीं—यही तो हमारे जीवन की एक परिस्थिति है। इसी परिस्थिति में तो हम और आप पराधीनता का, जड़ता का और अभाव का अनुभव करते हैं। आप कहेंगे कि जो नहीं कर सकते, उसे करने में जो सुख मिलता, वह न करने से नहीं मिलेगा। तो भाई, करने में जो सुख मिलता, वह सदैव नहीं रहेगा, तब क्या करोगे? क्या इस विधान को बदल दोगे? मुझे बोलने से जो सुख होता है, वह क्या बोलते-बोलते थक जाने पर रहेगा? बोलने की प्रवृत्ति रहेगी? नहीं रह सकती। तो जब करने की प्रवृत्ति ही नित्य नहीं है, तो करने के लिए परेशान क्यों होते हैं? और जब करने के लिए आप परेशान नहीं हैं, तो न करने में आपको क्या कठिनाई है? और जब आपको कुछ न करने में कठिनाई नहीं होगी, तब आपको विश्राम मिलेगा। और जब आपको विश्राम मिलेगाा, तो आप सच मानिये, विश्राम-काल में किसी परिस्थिति से किसी का भी सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु दु:ख की बात तो यह है कि आज हमें सही करना नहीं आया, तो विश्राम भी करना नहीं आया। और होता यह है कि जब हम विश्राम करते हैं, तो कमरे की दीवार ताकते रहते हैं, या जड़ता में स्थित रहते हैं, जड़ता में, किसी परिस्थिति में स्थित रहते हैं। तो भाई, न तो जड़ता में स्थित रहना है और न निरर्थक चेष्टा करनी है। जब हम निरर्थक चेष्टा नहीं करेंगे, तो अपने आप बिना किसी श्रम के समस्त इन्द्रियाँ मन में विलीन होंगी, मन बुद्धि में विलीन होगा और बुद्धि सम हो जायगी। आज यदि हमारी बुद्धि सम नहीं होती, बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि सम नहीं होती, तो उसका एकमात्र कारण यह है कि निरर्थक चेष्टा के बिना हम रह नहीं पाते। कुछ नहीं तो, आसमान को ही ताकेंगे; कुछ नहीं है तो, बेकार बात ही सोचेंगे। इसमें तो हम थकते नहीं। परन्तु इस पर यदि कोई कहे, भैया, तुम्हें मालूम

नहीं कि जो तुम चाहते हो, वह श्रम-रहित होने से मिलेगा, या जो तुम चाहते हो, उसकी लालसा जाग्रत करो, उसकी जिज्ञासा जाग्रत करो। हमारे जीवन में कितनी देर जिज्ञासा रहती है, कितनी देर लालसा रहती है और कितनी देर व्यर्थ-चिन्तन रहता है? इस पर और, ठीक-ठीक निर्णय करें। यदि हम और आप अपने जीवन को देखें, तो पता चलेगा कि जिज्ञासा, लालसा और व्यर्थ-चिन्तन—इन तीनों में से व्यर्थ-चिन्तन ही अधिक देर रहता है। तब अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान बना रहता है, अप्राप्त वस्तु का आह्वान बना रहता है और अप्राप्त व्यक्ति का आह्वान बना रहता है। प्राप्त वस्तु का तो हमने सदुपयोग नहीं किया, प्राप्त व्यक्ति की तो हमने सेवा नहीं की, उसे प्यार नहीं किया और जब अमुक व्यक्ति आयेगा, तब हमारे हृदय में प्यार पैदा होगा—ऐसा सोचना क्या कोई मनुष्यता की बात है? क्या यह कोई बुद्धिमानी की बात है कि आप प्रत्येक व्यक्ति को प्यार नहीं कर सकते, प्राप्त वस्तु का सदुपयोग नहीं कर सकते? प्रत्येक व्यक्ति को हम कैसे प्यार कर सकते हैं? क्योंकि वह तो हमारा अपना नहीं है। अजी, बड़े-बड़े सत्संगियों तक को ऐसा कहते देखा जाता है कि अरे, ये तो हमारे स्वामीजी नहीं हैं इत्यादि। अच्छा भाई, तुम्हारे स्वामीजी नहीं हैं, तो जो भी हैं, क्या उनसे काम ले सकते हो? तात्पर्य यह है कि आप जो यह सोचते हैं कि जो व्यक्ति हमारे सामने है, उसको तो हम प्यार नहीं देंगे, उसकी तो हम सेवा नहीं करेंगे, और जो व्यक्ति मौजूद नहीं है, उसका हम चिन्तन करेंगे। तो भाई, आपकी शान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती। हाँ, अगर आपको व्यक्ति और वस्तु से अरुचि हो गई है, तो आपका शरीर भी एक वस्तु है और आप भी एक व्यक्ति हैं और, आपको अपने से भी अरुचि होनी चाहिये। त्याग का अर्थ यह है कि अपना त्याग करें। प्रेम का अर्थ यह है कि हम सभी से प्रेम करें। त्याग का अर्थ यह नहीं है कि हम अमुक चीज का तो त्याग कर देंगे और अमुक का नहीं। यदि कोई कहे कि सबसे तो हम अलग हो गये, एक शरीर को लेकर कुटिया में अन्दर बन्द कर दिया और हम त्यागी हो गये। तो मैं तो कहूँगा कि ऐसे तो तुम्हारे बाप भी त्यागी नहीं हो सकते। यदि पूछो, क्यों त्यागी नहीं हो सकते? तो कहना होगा कि आपने अपना तो त्याग किया नहीं। भाई मेरे, अगर त्याग करना हो, तो अपना त्याग करो। और प्रेम करना हो, तो सभी को प्रेम करो। और यदि अपने आप का त्याग नहीं कर सकते, तो आप संसार का कभी त्याग नहीं कर सकते। तो आज दशा यह है कि हम त्याग में भी पराधीन हो गये, आज हम प्रेम में भी पराधीन हो गये और भाई, भोग में तो हम सभी पराधीन हैं ही। तो फिर जिसमें सभी पराधीन हैं, उसमें यदि हम भी पराधीन हैं, तो हम अपने को

कोसते क्यों हैं? और भाई, यदि सभी के मन की बात पूरी नहीं हुई और हमारे भी मन की बात पूरी नहीं हुई, तो हम अपने लिए एक नया विधान क्यों चाहते हैं? कहने का तात्पर्य यह कि जिसमें हम पराधीन हैं, उसमें सभी पराधीन हैं और जिसमें हम स्वाधीन हैं, उसमें सभी स्वाधीन हैं। तब पराधीनता कब तक है? जब तक हम वह करना चाहते हैं, जो नहीं कर सकते, तभी तक पराधीनता है। जिस समय हमने-आपने निर्णय कर लिया कि जो नहीं कर सकते हैं, उसे नहीं करेंगे, तो पराधीनता सदा के लिए चली गई। और जब जो नहीं कर सकते, उसे नहीं करेंगे। त्याग करेंगे, तो अपना भी त्याग करेंगे और प्रेम करेंगे, तो सभी को प्रेम करेंगे। इन तीन बातों से हमारी-आपकी शान्ति सुरक्षित रह सकती है और शान्ति सुरक्षित रहने से आवश्यक सामर्थ्य का विकास होगा और आवश्यक सामर्थ्य का विकास होने पर स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता प्राप्त होने से चिन्मयता प्राप्त होती है और चिन्मयता प्राप्त होने से हम परिस्थितियों से अतीत के जीवन को प्राप्त कर लेते हैं—ऐसा मेरा अनुभव है, या विश्वास, जैसा कहो आप कह लीजिये।

भगवान् का अवतार रहस्य

प्रश्न—भगवान् को अवतार क्यों लेना पड़ा?

उत्तर—भगवान् को अवतार लेना पड़े, ऐसी बात भगवान् में नहीं होती; क्योंकि भगवान् सर्वांश पूर्ण, सर्वशक्तिमान और स्वतन्त्र हैं।

भगवदावतार के शास्त्रों में तीन हेतु बतलाये हैं—(1) साधुओं का परित्राण (2) दुष्टों का विनाश और (3) धर्म की स्थापना।

इनमें दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना तो भगवान् बिना अवतार लिये भी कर सकते हैं। यदि वे दोनों भगवान् के अवतार में खास कारण होते, तो इस समय भी भगवान् का अवतार होना चाहिए था। क्या धर्म का ह्रास इस समय कम है? और दुष्टों की कमी नहीं है। परन्तु उनकी लीला पर विचार करने पर मालूम होता है कि भगवान् का अवतार अपनी रसमयी लीला द्वारा भक्तों को रस प्रदान करने के लिए और स्वयं उनके प्रेम का रस लेने के लिए ही होता है। धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश तो उसका आनुषंगिक कार्य है। उसमें भी प्रकारान्तर से साधुओं का हित भर रहता है।

साधु पुरुष वही है, जो भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, अपने जीवन को भगवत्परायण बनाने की साधना में लगा रहता है। किसी प्रकार का भेष बना लेने का नाम साधु नहीं है।

भगवान् जब अवतार लेते हैं, साधु पुरुषों के घरों में लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार पर ही विचार कीजिए। उनका प्राकट्य वासुदेव जी के घर में और माता देवकी के उदर से हुआ। जो स्वयं प्रकाश और सर्वत्र बसने वाला है, उसे 'वसुदेव' कहते हैं और प्रकाशमयी ब्रह्म विद्या का नाम 'देवकी' है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् उन साधु पुरुषों के घर जन्म लेते हैं, जो सर्वदा विशुद्ध और तत्त्वज्ञानी हैं। परन्तु उनको अपनी लीला का, अपने प्रेम का रस प्रदान नहीं करते। अपनी प्रेममयी लीला का रस प्रदान करने के लिए आप माता यशोदा की गोद में पधारते हैं। जो यश यानि प्रेम-रस का प्रदान करें, उसको 'यशोदा' कहते हैं और आनन्द का ही दूसरा नाम 'नन्द' है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् अपने प्रेमी भक्तों को अपनी प्रेममयी लीला का रस प्रदान करके और उनके प्रेम-रस का स्वयं आस्वादन कर, उन भक्तों को आह्लादित करते हैं। यह काम बिना अवतार लिये पूरा नहीं हो सकता। भगवान् की एक-एक लीला में अनेक रहस्य भरे रहते हैं। वे एक ही लीला में बहुतों की लालसा पूरी करते रहते हैं। उनकी प्रेममयी लीला का रहस्य बड़े-बड़े बुद्धिमान नहीं समझ पाते। औरों की तो कौन कहे, साक्षात् ब्रह्मा जी को सन्देह हो गया। भगवान् अघासुर को मुक्त करके वन-भोजन करने के लिए बाल सखाओं के बीच में बैठकर भोजन करने लगे, तो उस लीला को देखकर ब्रह्मा जी चकित हो गये। वे सोचने लगे कि, 'साक्षात् परमेश्वर क्या कभी इन गँवार-ग्वालों के बालकों की जूठन खा सकते हैं? यह क्या? एक बालक अपनी वस्तु दूसरी को देता है, वह अपने घर से लाई हुई दूसरे को देता है।' इस मोह में पड़कर उन्होंने भगवान् की परीक्षा करने के लिए बछड़ों को उठाया। इधर बालकों का मन भगवान् से हटकर बछड़ों की ओर गया। वे बोले, "घास के लोभ से बछड़े दूर चले गये हैं, दिखलाई नहीं देते।" भगवान् यह कैसे सहन कर सकते हैं कि उनके प्रेमी किसी और को देखें, उनको छोड़कर उसका मन दूसरी जगह चला जाये! अत: उन्होंने सखाओं से कहा- "मित्रों! तुम लोग यहीं रहो, मैं अभी बछड़ों को ले आता हूँ।" श्यासुन्दर उधर गये कि ब्रह्मा जी ने उन बालकों को बेहोश करके वहाँ से उठाया और पर्वत की गुफा में रख आये। भगवान् से मन हटते ही ग्वाल-बालों को एक वर्ष उनसे अलग होना पड़ा। इधर गायों तथा गोपियों के मन में यह लालसा बढ़ रही थी कि कभी वे दिन आयें कि श्यामसुन्दर यशोदा मैया की भाँति हमारे स्तनों का दूध पान करें, उसी प्रकार हमारी गोद में खेलकर अपनी प्रेममयी बाल-लीला का रस प्रदान करें। उनकी उस लालसा को पूर्ण करने के लिए भगवान् स्वयं बछड़े बने और गायों को प्रेम-रस प्रदान

किया। गोप और गोपियों की गोद में खेलकर उनको पुत्र-स्नेह का रस प्रदान किया। एक वर्ष तक वे उस मधुर प्रेम-रस का आस्वादन करते रहे। उसके बाद जब ब्रह्माजी ने देखा कि ब्रज का काम तो उसी प्रकार चल रहा है, श्यामसुन्दर तो पहले की भाँति ही उन ग्वाल-बालों के साथ भोजन कर रहे हैं और जिनको मैं चुरा लाया था, वे सब गुफा में सो रहे हैं। तब विचार करते ही उनको भगवान् की अचिंत्य महिमा का कुछ दर्शन हुआ, तो उनका समस्त अभिमान गल गया। भगवान् के चरणों में मस्तक रखकर उन्होंने क्षमा माँगी और भगवान् की स्तुति की। परन्तु भगवान् उनसे बोले तक नहीं। एक ही लीला में भगवान् ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्य का प्रदर्शन किया। यह काम बिना अवतार के कैसे हो सकता था? एक ओर ब्रह्मा के अभिमान का नाश, उसी के साथ-साथ ग्वाल-बालों को चेतावनी और गायों की एवं गोप-गोपियों की प्रेम-लालसा की पूर्ति—यह काम तो अवतार लेकर ही किया जा सकता है।

इसके पहले जब भगवान् श्यामसुन्दर छः दिन के हुए थे, उस समय भी उन्होंने एक ही साथ ऐश्वर्य और माधुर्य तथा न्याय और दयालुता का भाव दिखाया था। पूतना जो कि घोर पापिनी और बालकों का नाश करने वाली थी, जब सुन्दर धाय का कपट वेश बनाकर भगवान् के पास गई एवं मन में दूषित भाव रखकर ऊपर से प्रेम का भाव दिखाकर उनको गोद में उठा लिया और अपना स्तन श्यामसुन्दर के मुखारबिन्द में दे दिया, तब भगवान् ने उसके मातृ-स्नेह की रक्षा करने के लिए तो उसका दूध पिया और वह उनके प्राण लेने के लिए आयी थी, इसलिए दूध के साथ-साथ उसके प्राण भी पी गये। भगवान् के स्पर्श से उसका कपट नाश हो गया। वह अपने असली रूप में आ गयी। सारे शरीर में सुगन्ध हो गई। भगवान् उसके शरीर पर खेलने लगे और उसे माता की गति प्रदान की। इस प्रकार की लीला भगवान् बिना अवतार के कैसे कर सकते थे?

इसी प्रकार उनकी हरेक लीला में अनन्त रस और अनन्त रहस्य भरा हुआ है। उनके प्रेमी भक्त ही उसका रस ले सकते हैं।

भगवान् का अवतार नित्य है। उनका लीलाधाम, उनके माता-पिता, उनके सखा और सखियाँ सब चिन्मय प्रेम से ही बने हुए थे। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं थी। भगवान् के प्रेमी भक्तों में भौतिक भाव नहीं रहता।

भगवान् के प्रेमी-भक्तों का आज भी उनकी दिव्य लीला में प्रवेश होता है और उनके प्रेम-रस का आस्वादन करते रहते हैं। यदि भगवान् का अवतार नहीं होता, तो इस रस की पूर्ति नहीं हो सकती थी।

जिनको यह विश्वास नहीं है कि भगवान् अवतार लेते हैं, उनसे मेरा कोई आग्रह नहीं है कि वे अवतारवाद को जबरदस्ती मानें तथा उनके न मानने का कोई आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि अपनी-अपनी मान्यता के लिए सभी स्वतन्त्र हैं।

सत्संग की प्रेरणा

श्रीवृन्दावन धाम,
13-11-73

प्राणप्यारे के प्रिय साधकों!

साधक होने के नाते सत्संग तुम्हारा स्वधर्म है, कारण कि सत्य को स्वीकार करने मात्र से ही साधक साधननिष्ठ हो जाता है।

असत् के त्याग से असाधन की निवृत्ति और सत्य के संग से साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। इस दृष्टि से सत्यंग साधक का स्वधर्म तथा परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता साधक को उसके रचयिता ने प्रदान की है।

ज्ञान-गुरु के प्रकाश में यह अनुभव करो कि समस्त दृश्य से मेरी जातीय भिन्नता है। दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर और चित्त बिना आधार के शुद्ध और शांत होने पर स्वत: योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति और भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति होती है। अत: चित्त को शुद्ध और शांत करने के लिए, जीवन का जो सत्य है अर्थात् जो ज्ञान से सिद्ध तथा आस्था से साध्य है, उसे स्वीकार करना अनिवार्य है। सर्वसमर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपने प्रिय सभी साधकों को सत्य को स्वीकार करने की तथा असत्य को अस्वीकार करने की सामर्थ्य प्रदान करें !

इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

शरणानन्द

प्रेरणा पथ

ॐ

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।